विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर (म. प्र.)

वर्ष : १ अंक : २०

विवेक ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९८२ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ८)

एक प्र

आजीवन सदस्यता शुल्क –, १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर । ४९२००१ (म. प्र.)

त्रिलोक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(५६ वीं तालिका)

१७४१. श्री गुमानीराम त्रिलोकचन्द अकिंचन, बालोद, दुर्ग ।
१७४२. „ गंगामैय्या मन्दिर समिति, „ „ ।
१७४३. डा. सत्यप्रकाश अग्रवाल, „ „ ।
१७४४. श्री आनन्दीलाल, „ „ ।
१७४५. „ मोहनलाल टावरी, „ „ ।
१७४६. „ बंशीलाल राठी, „ „ ।
१७४७. „ रामेश्वर ओझा, „ „ ।
१७४८. श्रीमती मनोरमा दुबे, मुजफ्फरपुर (बिहार) ।
१७४९. श्री सी. एल. कस्तुरिया, नई दिल्ली ।
१७५०. डा. दत्तात्रय रामचन्द्र भागवत, अकोला (महाराष्ट्र) ।
१७५१. श्री भवानी प्रसाद मुदगल, ग्वालियर ।
१७५२. प्राचार्य, नगरपालिका बहु उच्च, माध्यमिक शाला, धमतरी
१७५३. श्री चन्द्रमा सिंह, वाराणसी (उ. प्र.) ।
१७५४. „ व्रजकुमार शर्मा, भोपाल ।
१७५५. श्रीमती नमिता बोल, यू. एस. ए. ।
१७५६. श्री लालबिहारी शर्मा, जबलपुर (म. प्र.) ।
१७५७. श्री रामप्रसाद लोधी, सिंहभूमि (बिहार) ।
१७५८. कूँडाजी एसोसियेट्स इन्दौर (म. प्र.) ।
१७५९. श्री अशोक सिंह गौतम, बिलासपुर (म. प्र.) ।
१७६०. श्री रवीन्द्रनाथ मिश्रा, अकलतरा (म. प्र.) ।
१७६१. श्री वैजनाथ काशिनाथअप्पा पसारकर, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
१७६३. श्रीमती छवि चटर्जी, रायपुर (म. प्र.) ।
१७६४. श्री उमाकान्त शांगला, एडवोकेट, अम्बाला कैन्ट ।
१७६५. श्री जे. गोयनका, रिसरा (हुगली) ।
१७६६. श्री पी. डी. खरे, भिलाईनगर ।

१७६७. श्री पीरवेन्द्र नाथ गजपाल, दुर्ग (म. प्र.)।
१७६८. श्री दिलीप एम. वासन, कच्छ।
१७६९. श्री केजूराम साहू, रायपुर (म. प्र.)।
१७७०. श्री रमेशचन्द्र चावडा, रायपुर (म. प्र.)।
१७७१. श्री टेकराम वर्मा, रायपुर (म. प्र.)।
१७७२. श्री जयन्ति भाई एन. राठोड, भुज कच्छ।
१७७३. श्री सुरेश भाई हरसोमल मीरीयाणी, आदीपुर-कच्छ।
१७७४. श्री कैलाश पी. ठक्कर, भुज कच्छ।
१७७५. श्री रामकृष्ण युवक मण्डल, भुज कच्छ।
१७७६. श्री गुसाई श्यामगर नारायणगर, भुज कच्छ।

०

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्योरा

१. प्रकाशन का स्थान	—रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिता	—त्रैमासिक
३–५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक	—स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	—भारतीय
पता	—रामकृष्ण मिशन, रायपुर
६. स्वत्वाधिकारी	—रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी महनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी गीतानन्द।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरे जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

वर्ष २०] ★ १९८२ ★ [अंक १

अहंकार-शत्रु का नाश

तस्मादहंकारमिमं स्वशत्रु
भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् ।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं
भुंक्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ।।

—इसलिए हे विद्वान् ! भोजन करनेवाले पुरुष के गले में काँटे के समान खटकनेवाले इस अहंकाररूप अपने शत्रु को विज्ञानरूप महाखड्ग से भली प्रकार छेदन कर आत्म-साम्राज्य-सुख का यथेष्ट भोग करो ।

—विवेकचूड़ामणि, ३०८

अग्नि-मंत्र

(श्रीमती मृणालिनी बसु को लिखित)

देवघर, वैद्यनाथ
३ जनवरी, १८९८

माँ,

तुम्हारे पत्र में कुछ अति कठिन प्रश्नों का जिक्र हुआ है। एक छोटे से पत्र में उन सब प्रश्नों का विस्तारपूर्वक उत्तर देना सम्भव नहीं, परन्तु बहुत संक्षेप में उत्तर लिख रहा हूँ।

१. ऋषि-मुनि, या देवता, किसी का भी सामर्थ्य नहीं कि वे सामाजिक नियमों का प्रवर्तन करें। जब समाज के पीछे समय की आवश्यकताओं का कोई झोंका लगता है, तब वह आत्मरक्षा के लिए आप ही आप कुछ आचारों की शरण लेता है। ऋषियों ने केवल उन सभी आचारोंको एकत्र कर दिया है, बस। जैसे आत्मरक्षा के लिए मनुष्य कभी कभी बहुत से ऐसे उपायों का प्रयोग करता है, जो उस समय तो रक्षा पाने के लिए उपयोगी हों, परन्तु भविष्य के लिए बड़े ही अहितकर ठहरें, वैसे ही समाज भी बहुत अवसरों पर उस समय तो बच जाता है, पर जिस उपाय से वह बचता है, वही अन्त में भयकर हो जाता है।

जैसे हमारे देश में विधवा-विवाह का निषेध। ऐसा न सोचना कि ऋषियों या दुष्ट पुरुषो ने उन नियमों को बनाया है। यद्यपि पुरुष स्त्रियों को पूर्णतया अपने

अधीन रखना चाहते हैं, तो भी बिना समाज की सामयिक आवश्यकता की सहायता लिये वे कभी कृतकार्य नहीं होते। इन आचारों में से दो विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) छोटी जातियों में विधवा-विवाह होता है।

(ख) उच्च जातियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है।

अब यदि हर एक लड़की का विवाह करना ही नियम हो, तो एक एक लड़की के लिए जब एक एक पति मिलना ही मुश्किल है, फिर दो-तीन कहाँ से आये? इसीलिए समाज ने एक तरफ की हानि कर दी है, यानी जिसको एक बार पति मिल गया है, उसको वह फिर पति नहीं देता; अगर दे तो एक कुमारी को पति नहीं मिलेगा। दूसरी तरफ देखो कि जिन जातियों में स्त्रियों की कमी है, उनमें ऊपर लिखी बाधा न होने से विधवा-विवाह प्रचलित है।

यही बात जाति-भेद तथा अन्य सामाजिक आचारों के सम्बन्ध में है।

पाश्चात्य देशों में कुमारियों को पति मिलना दिन पर दिन कठिन होता जा रहा है। यदि किसी सामाजिक आचार को बदलना हो, तो पहले यही ढूँढ़ना चाहिए कि उस आचार की जड़ में क्या आवश्यकता है, और केवल उसी के बदलने से वह आचार आप ही आप नष्ट हो जायगा। ऐसा किये बिना केवल निन्दा या स्तुति से काम नहीं चलेगा।

२. अब प्रश्न यह है कि क्या समाज के बनायेहुए ये नियम, अथवा समाज का संगठन ही उस समाज के जनसाधारण के हितार्थ है? बहुत से लोग कहते हैं हाँ, पर कोई कोई कहते हैं कि ऐसा नहीं, कुछ मनुष्य औरों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त कर दूसरों को धीरे धीरे अपने अधीन कर लेते हैं और कुछ छल-बल या कौशल से अपना मतलब हासिल कर लेते हैं। यदि यह सच है, तो इस बात का क्या अर्थ है कि अशिक्षित मनुष्यों को स्वाधीनता देने में डर रहता है? और फिर स्वाधीनता का अर्थ ही क्या है?

मेरे तुम्हारे धन आदि छीन लेने में कोई बाधा के न रहने का नाम तो स्वाधीनता है नहीं, बल्कि तन, मन या धन का, बिना दूसरों को हानि पहुँचाये, इच्छानुसार उपयोग करने ही का नाम स्वाधीनता है। यह तो मेरा स्वाभाविक अधिकार है और उस धन, विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने में समाज के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधा रहनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि जो लोग कहते हैं कि अशिक्षित या गरीब मनुष्यों को स्वाधीनता देने से अर्थात् उनको अपने शरीर और धन आदि पर पूरा अधिकार देने तथा उनके वंशजों को धनी और ऊँचे दर्जे के आदमियों के वंशजों की भाँति ज्ञान प्राप्त करने एवं अपनी दशा सुधारने में समान सुविधा देने से वे उच्छृंखल बन जायँगे, तो क्या वे समाज की भलाई के लिए ऐसा कहते हैं अथवा स्वार्थ

से अन्धे होकर ? इंग्लैंड में भी मैंने इस बात को सुना है कि अगर नीच लोग लिखना-पढ़ना सीख जायँगे, तो फिर हमारी नौकरी कौन करेगा ?

मुट्ठी भर अमीरों के विलास के लिए लाखों स्त्री-पुरुष अज्ञता के अन्धकार और अभाव के नरक में पड़े रहें ! क्योंकि उन्हें धन मिलने पर या उनके विद्या सीखने पर समाज उच्छृंखल हो जायगा !!

समाज है कौन ? वे लोग जिनकी संख्या लाखों है ? या तुम और मुझ जैसे दस-पाँच उच्च श्रेणीवाले ?

यदि यह सच भी हो, तो भी तुममें और मुझमें ऐसा घमण्ड किस बात का है कि हम और सब लोगों को मार्ग बताएँ ? क्या हम लोग सर्वज्ञ हैं ?

'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—आप ही अपना उद्धार करना होगा। सब कोई अपने आपको उबारे। सभी विषयों में स्वाधीनता, यानी मुक्ति की ओर अग्रसर होना ही पुरुषार्थ है। जिससे और लोग शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता को अग्रसर हो सकें, उसमें सहायता देना और स्वयं उसी तरफ बढ़ना ही परम पुरुषार्थ है। जो सामाजिक नियम इस स्वाधीनता के स्फुरण में बाधा डालते हैं, वे ही अहितकर हैं और ऐसा करना चाहिए जिससे वे शीघ्र नष्ट हो जायँ। जिन नियमों के द्वारा सब जीव स्वाधीनता की ओर बढ़ सकें उन्हीं की पुष्टि करनी चाहिए।

इस जन्म में दर्शन होते ही किसी व्यक्तिविशेष

पर चाहे वह वैसा गुणवान् भले ही न हो—हमारा जो हार्दिक प्रेम हो जाता है, उसे हमारे यहाँ के पण्डितों ने पूर्वजन्म का ही फल बतलाया है।

इच्छा-शक्ति के बारे में तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और यही समझने योग्य विषय है। वासनाओं का नाश ही सभी धर्मों का सार है, पर इसके साथ इच्छा का भी निश्चय नाश हो जाता है, क्योंकि वासना तो इच्छाविशेष ही का नाम है। अच्छा, तो यह जगत् क्यों हुआ? और इन इच्छाओं का विकास ही क्यों हुआ? कुछ धर्मों का कहना है—बुरी इच्छाओं का ही नाश होना चाहिए, न कि सदिच्छाओं का। इस लोक में वासना का त्याग परलोक में भोगों के द्वारा पूर्ण हो जायगा। अवश्य पण्डित लोग इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। दूसरी तरफ बौद्ध लोग कहते हैं कि वासना दुःख की जड़ है और उसका नाश ही श्रेय है। परन्तु मच्छर मारते हुए आदमी ही को मार डालने की तरह, बौद्ध आदि मतों के अनुसार दुःख का नाश करने के प्रयत्न में हमने अपनी आत्मा को भी मार डाला है।

सिद्धान्त यह है कि हम जिसे इच्छा कहते हैं, वह उससे भी बढ़कर किसी अवस्था का निम्न परिणाम है। 'निष्काम' का अर्थ है इच्छा-शक्तिरूप निम्न परिणाम का त्याग और उच्च परिणाम का आविर्भाव। यह उच्च परिणाम मन और बुद्धि के गोचर नहीं; परन्तु जैसे देखने में मुहर रुपये और पैसे से अत्यन्त भिन्न होने पर

भी हम निश्चित जानते हैं कि गुरु दोनों ही से श्रेष्ठ है, वैसे ही वह उच्चतम अवस्था—उसे मुक्ति कहो या निर्वाण या और कुछ—मन-बुद्धि के गोचर न होने पर भी इच्छा आदि सब शक्तियों से बढ़कर है। यद्यपि वह 'शक्ति' नहीं, तो भी शक्ति उसी का परिणाम है, इसीलिए वह बढ़कर है; यद्यपि वह इच्छा नहीं, पर इच्छा उसी का निम्न परिणाम है, अतः वह उत्कृष्टतर है। अब समझ लो, पहले सकाम, और आगे चलकर निष्काम रीति से ठीक ठीक इच्छा-शक्ति के उपयोग का फल यह होगा कि इच्छा-शक्ति पहले से उन्नत दशा को पहुँच जायगी।

गुरु-मूर्ति का पहले ध्यान करना पड़ता है बाद में उसे लय कर इष्ट मूर्ति की स्थापना करनी पड़ती है। जिस पर भक्ति एवं प्रेम हो वही इष्ट के रूप में ग्राह्य है।...

मनुष्य में ईश्वर-बुद्धि का आरोप करना बड़ा ही कठिन है, पर सतत प्रयत्न करने से अवश्य सफलता मिलती है। ईश्वर हर एक मनुष्य में विराजता है, चाहे वह इसे जाने या न जाने; तुम्हारी भक्ति से उस ईश्वरत्व का उसमें अवश्य ही उदय होगा।

तुम्हारा सदैव शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

श्री माँ शारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

हम लोग नारायण-सेवा के उद्देश्य से आश्रम अथवा प्रतिष्ठान गढ़ते हैं, बहुत से साज-सरंजाम जुटाते हैं, चारों तरफ धूम मच जाती है। किन्तु श्री माँ का जीवन ऐसा था कि उसे एक ही साथ ईश्वरोपासना का स्थान यानी मन्दिर, सुरक्षा का प्रतिष्ठान यानी विद्यालय, दीन-दुःखी की सेवा के लिए आश्रम तथा निराश्रित रोगी का अस्पताल कह सकते थे। जो माँ के समीप रहने का, उनके दर्शन का, उनसे वार्तालाप करने का सौभाग्य पाते, उन सब पर माँ का सब समय भगवान् का स्मरण-मनन करते रहना, सब अवस्था में उनका भगवान् पर निर्भर होकर चलना और उनकी अतुलनीय निरवता शान्ति इन सबकी छाप थोड़ी-बहुत कुछ न कुछ अवश्य पड़ती। ठाकुरजी के लिए कोई अलग कमरा या मन्दिर न होता, माँ जहाँ जातीं या रहतीं, साथ साथ ठाकुरजी रहते। जयरामवाटी में मिट्टी की दीवाल के एक आले में ठाकुरजी का आसन रहता। नींद टूटने पर ठाकुरजी का दर्शन, प्रातःकर्म शेष करने के बाद जप-ध्यान, संसार के रोजमर्रे के कार्य, सब्जी काटना, स्नान, पूजा, भोजन पकाने की व्यवस्था करना, पान सजाना, ठाकुरजी को भोग लगाना, प्रसाद पाना, विश्राम करना; अपराह्न में आये हुए भक्त तथा अन्य लोगों के साथ भेंट करना, सबके सम्बन्ध में कुशल-प्रश्न पूछना; शाम को धूप-दीप इत्यादि दे ठाकुरजी का नीराजन करना; रात में ठाकुरजी

को भोग दे प्रसाद ग्रहण करना और फिर सोना। फिर आये हुए अतिथियों, परिवार के लोगों और साधु-भक्तों आदि की सेवा का काम तो लगा ही हुआ था। संसार के किसी भी काम के प्रति अवहेलना या अवज्ञा का भाव नहीं था। सभी कुछ तो ठाकुरजी के लिए था—ठाकुरजी का ही संसार था, सब उन्हीं का काम था; उन्हीं की प्रेरणा से श्री माँ का जीवन-धारण था। ठाकुर ही मालिक थे और माँ उनके संसार में दासी बनकर ही रहती थीं। उनके लिए ठाकुर की प्रसन्नता हेतु उनकी सेवा ही अपने जीवन को बचाये रखने का एकमात्र प्रयोजन था।

उच्च कोटि के साधु से लेकर घोर विषयासक्त तक—पण्डित–मूर्ख, स्त्री-पुरुष धनी-निर्धन, बच्चे-बूढ़े—सब प्रकार के लोग तरह तरह के प्रश्न लेकर माँ के पास उपस्थित होते। माँ सबकी बातें ध्यान से सुनतीं और ऐसे सुन्दर एवं सहज-सरल ढंग से समस्या का समाधान देतीं कि सबका संशय दूर हो जाता और हृदय ज्ञान से उद्भासित हो उठता। ब्रह्म-तत्त्व, साधन-भजन, गृहस्थी के काम-काज, शरीर और मन सम्बन्धी प्रश्नों तथा जीवन के सभी स्तरों के दुरूह विषयों के समाधान के लिए संशयाकुल व्यक्ति सर्वदा माँ के पास उपस्थित होते। माँ माता के समान ही परम स्नेह से सब सन्तानों को कल्याण के पथ पर अग्रसर होने के लिए सदैव सुन्दर उपदेश देतीं। दीन, दरिद्र, रुग्ण, आतुर, अनाथ—जो कोई माँ के समीप उपस्थित होता, माँ

यथासम्भव उसके दुःख को दूर करने का यत्न करतीं। भले ही सबका अभाव हरदम के लिए दूर करना सम्भव नहीं था, फिर भी सामयिक रूप से उन लोगों के उदास और विषण्ण चेहरे पर प्रसन्नता खेल उठती एवं हृदय में आशा और विश्वास जाग उठता। उनके मुख से निकले मीठे बोल, नेत्रों की स्नेहपूर्ण दृष्टि और हृदय की सहानुभूति दुःखियों के दुःख को कम से कम उस समय के लिए तो दूर कर देती। माँ आर्त, भूखे लोगों को सहायता देतीं—एक मुट्ठी अन्न के साथ साथ भगवान् के प्रति भक्ति-विश्वास, कर्मफल के कारण दुःखभोग, सत्कर्म और भगवत्कृपा से शान्ति-लाभ होना इत्यादि के सम्बन्ध में इतने हृदयग्राही रूप से अमृततुल्य उपदेश देतीं कि उन लोगों के मन की निराशा में आशा की किरण खेल उठती। माँ को अनेक भक्त फल, मिठाई, वस्त्र, औषध-पथ्य आदि बहुत सी चीजें देते। माँ वे सब चीजें अभावग्रस्त लोगों में उनकी आवश्यकता के अनुसार बँटवा देतीं; इसलिए उनके द्वार पर सर्वदा ही नाना प्रकार के प्रयोजन लेकर गाँव के लोगों के अलावा दूर दूर से प्रार्थना लेकर आये लोग दिखायी देते।

पहले ही लिखा जा चुका है कि कुली-मजदूर, कहार-गाड़ीवान आदि लोगों के प्रति भी माँ अपनी सन्तान जैसा भाव रखतीं और उनसे अत्यन्त स्नेहपूर्वक मधुर शब्दों में बोलतीं तथा उन्हें कुछ न कुछ जलपान अवश्य देतीं। उस अंचल की गरीब स्त्रियाँ सिर में लगाने

के लिए तेल भी न पातीं, इसलिए उन लोगों के केश सन की भाँति रूखे हो जाते थे। माँ के यहाँ किसी काम से उन लोगों के आने पर माँ उनको अच्छी तरह से लगाने के लिए तेल देतीं तथा पेट भर खाने के लिए मुरमुरा और गुड़।

माँ की यह अद्भुत संसार-यात्रा ही क्या 'अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर' संसार करना है ! माँ के पास जिसको थोड़ा भी रहने का सौभाग्य मिला है, उसने देखा है उनका यह अनलस, अनायास, निष्काम कर्म। माँ के इस अद्भुत कर्मयोग के विषय में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है, यहाँ पर दो-एक घटनाओं का और उल्लेख करेंगे।

उस समय प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था। देश में वस्त्राभाव के कारण एक भयानक संकट आ खड़ा हुआ था। लोगों के लिए अपनी लज्जा ढाँक रखना कठिन हो रहा था। देशड़ा ग्राम में हरिदास बैरागी नाम का एक गृहस्थ वैष्णव था। वह बेला बजाकर भजन सुनाते हुए भिक्षा के द्वारा अपनी जीविका चलाता। उस दिन वह भिक्षा के लिए माँ के घर आया था। गृहस्थ वैष्णवों का हरिनाम-कीर्तन तथा भगवान् की लीला-कथाओं का मधुर संगीतमय वर्णन लोगों का मनोरंजन करता और धर्मभाव की वृद्धि कर हृदय को शान्त-शीतल बनाता। गा-गाकर भिक्षा माँगना ही उन लोगों का पेशा था। भले ही उस क्षेत्र के लोग अपने अपने इष्ट के प्रति निष्ठावान् और अपने सम्प्रदाय के प्रति

अनुगत होते हैं, फिर भी भगवान् के विष्णु, शिव, शक्ति आदि सभी नामों और रूपों के प्रति उनकी भक्ति-श्रद्धा होती है। हरिदास वैष्णव था, फिर भी शिव-शक्ति विषयक भजन गाकर लोगों को मुग्ध कर देता। उसके कण्ठ से 'क्या आनन्द की बात है, उमा! लोगों के मुख से सुनता हूँ, सच बताना, शिवानी! विश्वेश्वरी! क्या तू विश्वेश्वर के वाम भाग में स्थित है' इत्यादि मधुर संगीत सुन भक्तप्रवर नाट्यसम्राट् गिरीशचन्द्र घोष ने उसे पाँच रुपया पुरस्कार दिया था। गिरीशचन्द्र उस समय मातृ-स्नेह से खिंचकर गाँव के एक बालक के समान माँ के पास जयरामवाटी में रह रहे थे। हरिदास बूढ़ा हो गया था, उसके प्राय: सभी दाँत झड़ गये थे। बेला भी पुराना, टूटा-सा था। किन्तु बूढ़े हरिदास के कण्ठ में तब भी खूब मिठास थी एवं जब वह भाव में तन्मय होकर गाता, तो लोगों के हृदय को पहले की ही भाँति पुलकित कर देता। इसलिए गाँव में उसके आने पर सब उसे स्नेहपूर्वक बुलाते और उसका गाना सुनते।

उस दिन माँ के घर के बरामदे में बैठ उसने बहुत से गाने सुनाये थे। 'क्या आनन्द की बात है, उमा' इस भजन को भी कई बार गाया। सबको खूब आनन्द हुआ। दोपहर हो गयी थी। माँ ने उसे तेल देकर स्नान करके आने के लिए कहा। उसके स्नान करके आने पर आसन तथा जल दे थाली भरकर मुरमुरा-गुड़ एवं प्रसाद खाने के लिए दिया। हरिदास मुरमुरा को गीला

करके बैठा, जिससे थोड़ा नरम हो जाय । माँ भी पास में बैठ गयी—प्रेम से खिलाने के लिए । सुख-दुःख की बहुत सी बातें होने लगीं । हरिदास के अपनी कोई सन्तान नहीं थी, एक लड़के को पाल-पोसकर बड़ा किया था, कण्ठी दी थी, वह शिष्य बना था—गाना-बजाना भी थोड़ा सीखा था । भिक्षा करके संसार चलाने में वह सहायता जरूर करता था, पर चालाक-चतुर नहीं था । उसका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था, इसलिए विशेष कोई रोजगार नहीं कर पाता था । संसार अभाव-असुविधा से भरा हुआ था, बड़े कष्ट से चल रहा था । वृद्ध की बात सुन माँ को बड़ा दुःख हुआ और वे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगीं । वृद्ध का हृदय विगलित हो उठा, भीतर का दुःख प्रकट करते हुए उसने बतलाया कि वस्त्र के अभाव में लज्जा को ढाँककर रखना भी कठिन हो गया है, दिन बड़े कष्ट में बीत रहे हैं । पानी से नरम हुए मुरमुरे-गुड़ को पेटभर खाकर वृद्ध को बड़ी तृप्ति हुई । आहार के उपरान्त वह थाली धोकर ले आया तथा स्थान को साफ किया । फिर माँ को प्रणाम कर विदा माँगी । माँ ने सुबह स्नान के बाद जो कपड़ा बाहर धूप में सुखाने के लिए फैलाया था, उसे वृद्ध को देते हुए बोलीं, "आजकल कपड़ा अधिक नहीं आ रहा है, नहीं तो एक नया वस्त्र तुम्हें देती, फिर भी यह नया ही है, दो-चार बार ही व्यवहार में लाया है।" वृद्ध कपड़ा लेते हुए अत्यन्त संकुचित हो गया । माँ ने उसे आश्वस्त

करते हुए कहा कि उनके पहनने के कपडों का अभाव नहीं है, कपड़े और रखे हैं। वृद्ध अश्रुपूर्ण नेत्रों से कपड़े को अपने सिर पर रखकर माँ के चरणों में प्रणत हुआ एवं माँ का शुभाशीर्वाद प्राप्त कर कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए अत्यन्त प्रसन्न चित्त से विदा ली। माँ का मुखमण्डल भी प्रसन्नता की आभा से दमक उठा।

गरीब-दुःखियों के प्रति श्री माँ की सहानुभूति के प्रसंग में एक और घटना याद आती है। श्री ठाकुर जी के भक्त, बलरामबाबू के पुत्र रामकृष्ण बसु के देहत्याग के समय में बलराम मन्दिर (उनका निवासस्थान) में था। रामबाबू ने तीन-चार दिन पूर्व एक वसीयत की थी। उस समय श्री माँ उद्बोधन में थीं और अस्वस्थ थीं। वसीयत के होने के दूसरे दिन दोपहर में श्री माँ की सेविका सरला देवी ने माँ को इस वसीयत की बात बतलायी और कहा कि रामबाबू ने अपनी वसीयत में ठाकुर-सेवा और अनेक साधुओं की सेवा के लिए बहुत धन की व्यवस्था की है। मैं उस समय माँ के पास ही उपस्थित था। सरला देवी की बात सुन माँ मेरी ओर देख पूछने लगीं, "गरीब-दुःखियों के लिए कुछ किया ?" मैं कुछ जानता न था। माँ का गरीब-दुःखियों के लिए दर्द देख मैं मुग्ध हो सिर्फ उनके मुख की ओर ताकता रह गया।

पूजनीय शरद् महाराज माँ की अस्वस्थता के कारण जयरामवाटी आये हुए थे। स्वस्थ हो जाने पर भी जब माँ ने कलकत्ता जाना स्वीकार न किया, तो 'माँ के भार-

वाहक' ने मातृ-सान्निध्य में परम आनन्दपूर्वक एक महीने से अधिक समय बिताया और अन्त में उद्‌बोधन जाने के लिए दिन निश्चित किया। तदनुसार उस दिन सुबह सब लोग माँ को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करने के बाद कामारपुकुर के लिए पैदल रवाना हुए। ऐसा तय हुआ था कि यहाँ से दूसरे दिन बैलगाड़ी में योगिन-माँ कोआलपाड़ा जाएँगी, शरद् महाराज पालकी में बदनगंज हाई स्कूल देखते हुए जाएँगे और दोपहर में श्यामबाजार में भक्त हेडमास्टर प्रबोधबाबू के यहाँ भोजन करके शाम को कोआलपाड़ा पहुँचकर उन लोगों से मिल जाएँगे। अत्यन्त भक्तिमान प्रबोधबाबू ने बहुत कोशिश करके महाराज को ले जाने के लिए एक बड़ी सी पालकी और ढोनेवाले कहारों की व्यवस्था की थी। स्कूल देखने और भोजन आदि में देरी हो गयी। माँ का ही स्वभाव पानेवाले मातृभक्त सारदानन्दजी अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों को कष्ट में डालने में संकोच का अनुभव करते। श्यामबाजार के भक्तों ने अत्यधिक आग्रह और उत्साह से महाराज की सेवा का आयोजन किया था। फलस्वरूप बड़ा विलम्ब हो गया। इस पर भक्तों को चिन्तित देख महाराज ने उन लोगों को निश्चिन्त करते हुए कह दिया कि किसी प्रकार की हड़बड़ी करने की जरूरत नहीं है। महाराज के साथ के लोग मन ही मन कुढ़ने पर भी कुछ बोल नहीं पाये तथा विलम्ब होने के बावजूद सबने परम सन्तोष के साथ भोजन और विश्रामादि किया।

विश्राम के बाद देखा गया कि कोआलपाड़ा पहुँचने में बहुत अधिक रात हो जाएगी। इसलिए निश्चित किया गया कि महाराज जयरामवाटी जाकर रात में माँ के यहाँ रुकेंगे और दूसरे दिन भोर में ही कोआलपाड़ा चले जाएँगे। जब महाराज की पालकी सन्ध्या समय जयरामवाटी ग्राम के दक्षिणी छोर पर पहुँची, तो महाराज पालकी से उतर पड़े। माँ और ठाकुरजी के जन्मस्थान में वे नंगे पैर ही चलते थे। खाली पैर, हाथों में जूता रखे, जब वे माँ के घर पहुँचे, तब रात हो गयी थी। उसके पहले ही स्वामी भूमानन्द ने माँ के घर में आकर महाराज के पुन: आने और रात्रि में रहने की तथा रात्रि में कुछ न खाने की बात बतला दी थी। महाराज के आगमन से सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। महाराज का बिस्तर और सामान कोआलपाड़ा चला गया था। माँ ने अपने कमरे से बिछौना निकालकर अच्छी तरह बिस्तर लगा देने के लिए कहा। माँ को प्रणाम कर महाराज के यह कहने पर भी कि 'रात में भोजन की जरूरत नहीं है, दिन में बहुत देरी से खाना हुआ है,' माँ ने थोड़ा कुछ मीठा खाकर पानी पीने के लिए कहा। माँ को यह कैसे अच्छा लगता कि लड़के रात में एकदम खाली पेट सोएँ ? माँ को कष्ट न हो इसलिए वे लोग मीठा मुँह कर, बैठकखाने में जाकर आनन्द से गपशप करने लगे। कहारों की व्यवस्था बड़े मामा के बैठकखाने में की

गयी थी। रात में भोजन आदि के लिए भूमानन्दजी ने उन लोगों को पहले ही एक रुपया दे दिया था। माँ ने कहारों के खाने-पीने की व्यवस्था करने के लिए कहा। तब उनको बतलाया गया कि उन लोगों के लिए पहले ही उचित व्यवस्था कर दी गयी है।

सारी व्यवस्था हो जाने पर माँ प्रसन्न और निश्चिन्त हो सोने के लिए गयीं। बाहर के कमरे में सब लोग महाराज के साथ बैठकर बदनगंज स्कूल के स्वागत-समारोह, श्यामबाजार में प्रबोधबाबू के घर में सबके उत्साह-उमंग तथा भोजन की परिपाटी आदि के बारे में सुन रहे थे। रात अधिक हो गयी थी। हठात् माँ के कमरे की तरफ सदर दरवाजे के किनारे से शब्द सुनायी पड़ा—"अजी, तुम लोग तो सो गये, पर हम लोगों को खाने को नहीं दिया?" आवाज तेज न होने पर भी रात्रि की निस्तब्धता में उसने बैठकखाने में हलचल मचा दी। भूमानन्दजी उसी समय सामने का दरवाजा खोल बाहर गये और वैसा बोलनेवाले को चुप रहने के लिए कहा। माँ ने जिस लड़के से कहारों के खाने-पीने की व्यवस्था करने की बात कही थी, वह चटपट बैठकखाने के भीतर का दरवाजा खोल भण्डार-घर से एक हाथ में मुरमुरा का पीपा और दूसरे में गुड़ का डिब्बा ले आया और क्षण भर में वैसा कहनेवाले व्यक्ति के कपड़े में यथेष्ट मुरमुरा डाल दिया, साथ में गुड़ भी दिया। भूमानन्दजी उस आदमी को ले बड़े मामा के

घर की तरफ गये।

माँ को अच्छी नींद लगी थी। पूर्वोक्त ऊँची आवाज से उनकी नींद टूट गयी। सोये सोये ही उन्होंने पुकारा, "बेटा—!" भक्त-सन्तान तब तक मुरमुरा देकर माँ के बिछौने के पास जा खड़ा हुआ और उत्तर में बोला, "हाँ, माँ!" "बेटा, कहारों को खाने के लिए नहीं दिया है क्या?"—— माँ के यह पूछने पर सन्तान ने बतलाया कि पहले ही उन लोगों को जलपान करने के लिए एक रुपया दिया गया था, फिर भण्डार से उन लोगों को मुरमुरा और गुड़ देकर खुश किया गया है। यह जानकर माँ आनन्दित हुईं और करवट बदलकर सो गयीं।

इधर बड़े मामा की बैठक में तूफान मच गया। भूमानन्दजी के रौद्र रूप और कठोर वचनों से गरीब कहार काँपते हुए हाथ-पैर जोड़ रहे थे। स्वामीजी डाँटते हुए कह रहे थे, "तुम लोगों को पहले ही जलपान करने के लिए एक रुपया दिया और कह दिया था कि और कुछ मत माँगना; फिर इतनी रात बीते क्यों तंग करने गये थे? माँ की नींद में खलल पड़ा और घर में सबको परेशान होना पड़ा।" कहारों का मुखिया, जो माँगने गया था, गिड़गिड़ाते हुए बोला, "महाराजजी, हम लोग गाँव में मुरमुरा खरीदने गये थे, तो गाँव के सब लोग कहने लगे, 'अरे तुम लोग एकदम बुद्धू हो! माँ के घर में आकर रात में मुरमुरा खरीदने के लिए ढूँढ़ते फिर रहे हो। जाओ, दरवाजे के पास जाकर माँगने से

ही अभी पेट भर मुरमुरा-गुड़ पा जाओगे।' महाराज जी, हम लोग नहीं जाना चाहते थे, पर वे लोग ही बार बार जोर देने लगे और हम लोगों को भूख भी लगी थी-- कहाँ मुरमुरा मिलेगा कुछ ठीक नहीं ऐसा सोच चिन्तित हो अन्त में जाकर एक बार धीरे से कहा और मुरमुरा-गुड़ पा भी गये। हम लोगों का कोई दोष नहीं है, यहाँ के लोगों ने ही सिखाकर भेजा था।" भूमानन्दजी का क्रोध बहुत कुछ शान्त जरूर हुआ, फिर भी वे बोले, "ठीक है, तो लाओ, रुपया लौटा दो।" तब वे लोग बगलें झाँकने लगे और हाथ-पैर जोड़ने लगे। भूमानन्दजी ने रुपया नहीं लिया। माँ के बैठकखाने में लौटकर जब पूजनीय शरत् महाराज को सारी घटना बतलायी गयी, तब वे विनोद करते हुए कहने लगे "माँ, के घर का मुरमुरा और गुड़ तो उनका प्राप्य ही था, ठीक ही वसूल कर लिया। जिन लोगों ने ज्यादा चतुराई दिखलाते हुए पहले से ही एक रुपया अग्रिम दे दिया था, वे ही ठगे गये!"

इस घटना से समझ में आएगा कि ऐसे अपरिचित कहार-मजदूरों तक के प्रति भी माँ की कैसी स्नेह-ममता थी और वह कैसे लोगों के हृदय पर अपनी अमिट छाप डाल देती थी।

दूसरे दिन सुबह माँ ने जलपान का अच्छे ढंग से आयोजन करवाया, क्योंकि रात्रि में सन्तानों का भोजन नहीं हुआ था। ईश्वरेच्छा से अच्छी मिठाई आदि की

व्यवस्था भी हो गयी। महाराज सुबह ही आमोदर नदी में जाकर अपने निर्दिष्ट स्थान में स्नान-प्रातःकृत्य आदि से निवृत्त होकर आ गये थे। माँ ने एक सन्तान को ठाकुर-जी को जल्दी भोग निवेदन करने का निर्देश दिया। भोग लग जाने पर महाराज अपने संगी-साथियों के साथ माँ के बरामदे में माँ के सामने बैठकर खूब तृप्तिपूर्वक रस लेते हुए मिष्टान्नादि खाने लगे। माँ आनन्द से देख रही थीं। घूँघट में छिपे मुख से माँ धीमे धीमे बोलकर, दिखा-दिखाकर अच्छी तरह परोसवा रही थीं और इस प्रकार उन्होंने सबको पेट भर खिलाया। महाराज की प्रिय चाय की भी अच्छी व्यवस्था हुई थी।

माँ घूँघट निकाले हुए खाट के ऊपर बिस्तर पर बैठी हुई थीं। महाराज ने घुटने टेककर माँ के युगल चरणों को दोनों हाथों से पकड़कर धीरे धीरे अपने मस्तक पर इतने भक्तिभाव से रखा कि देखकर सबके नेत्र गीले हो आये और मन द्रवीभूत हो उठा। माँ ने स्नेह-विगलित स्वर से धीमी आवाज में आशीर्वचन कहे। महाराज ने हाथ जोड़कर अत्यन्त कातरभाव से प्रार्थना की कि माँ अपनी देह के प्रति थोड़ा ख्याल रखें, जिससे वह स्वस्थ-सबल रहे।

इसी समय एक अप्रत्याशित घटना से महाराज कुछ अशान्त-से हुए थे। माँ को प्रणाम करके जैसे ही वे कमरे से बाहर आ रहे थे कि एक ब्रह्मचारी ने

आकर उनके चरणों में प्रणाम किया। महाराज सिहर उठे। ब्रह्मचारी इसका कारण न समझ हतप्रभ हो गया। तब एक वयस्क व्यक्ति ने बतलाया, "गुरु के समीप प्रणाम नहीं करते।" ब्रह्मचारी लज्जित हो दूर खड़ा हो गया एवं बाद में जब महाराज बरामदे में खड़े हो सबका प्रणाम ग्रहण करते हुए उनको आशीर्वाद दे रहे थे, तब उसने पास जा उन्हें फिर से प्रणाम किया और उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। दोनों का ही मन प्रसन्न हुआ।

शीतकाल का समय था। माँ के दर्शनों के लिए दूर से दो भक्त आये हुए थे। माँ तब बीमार थीं। उन लोगों ने अपराह्न में माँ के घर पहुँचते ही पूछा कि मुरमुरा छोड़ और कुछ खाने का है या नहीं। सारे दिन उन लोगों का भोजन नहीं हुआ था, बहुत दूर से पैदल चलकर आये थे और बहुत ही भूखे थे। माँ के घर में रह रहे एक शिष्य ने बतलाया कि दोपहर में खिचड़ी बनी थी, वह बची हुई है, पर ठण्डी हो गयी है, शीत-काल में ठण्डा भोजन करना ठीक नहीं, थोड़ी देर रुकने से उसको गरम करके दे देंगे। पर वे लोग बहुत भूखे थे, इसलिए उसी ठण्डी खिचड़ी को ही पेट भर खाकर सन्तुष्ट हुए। माँ को इस सम्बन्ध में कुछ नहीं पूछा गया था। माँ ने दूसरे से इस घटना को सुनकर खिचड़ी परोसनेवाले अपने उस लड़के को बुला भेजा। माँ बिछौने पर लेटी थीं। सन्तान के पास आते ही करुण दृष्टि से उसकी ओर ताककर आर्द्र स्वर में बोलीं, "बेटा, उन

लोगों को ठण्डी खिचड़ी खाने के लिए दी, कहीं बीमार हो गये तो ?" माँ का दुःख और चिन्ता देख लड़के के मन में भी चिन्ता होने लगी। उसने माँ से अत्यन्त नम्र भाव से निवेदन किया कि उसकी भी ठण्डी खिचड़ी देने की इच्छा नहीं थी, किन्तु वे लोग इतने भूखे थे कि उनके अत्यन्त आग्रह से बाध्य हो ठण्डी खिचड़ी ही देनी पड़ी। माँ अफसोस करने लगीं—देखो तो, मुझे बीमार जान वे लोग देखने आये, कितना कष्ट उठाकर आये, और मैं उन्हें स्वयं कुछ न खिला सकी, अब यह ठण्डी खिचड़ी खाकर वे लोग कहीं बीमार न हो जायें ! सन्तान को भी लगा कि माँ को पूछकर ही काम करना अच्छा होता। दोनों चिन्तित रहे, परन्तु ठाकुरजी की कृपा से उन लोगों को कोई नुकसान नहीं हुआ यह देख सुबह दोनों ने राहत की साँस ली।

माँ का अत्यन्त स्नेह-यत्न के साथ भक्त-सन्तानों को खिलाने के सम्बन्ध में और दो घटनाओं का उल्लेख करते हैं। एक भक्त-सन्तान बीमार होने के बाद चिकित्सा और वायु-परिवर्तन के लिए करीब महीने भर बाहर रहकर लौटा था, स्वास्थ्य अच्छा हो गया था। रात में दूसरों के साथ भोजन के लिए बैठा था। माँ खिला रही थीं, सबको रोटी दे रही थीं। उससे पूछा कितनी रोटी लेगा ? उसके 'चार' कहने पर माँ चिन्तित हो ऊँचे स्वर में बोल उठीं, "यह क्या ! अभी भी तुम चार रोटी से ज्यादा नहीं खा पा रहे हो ?" माँ के स्वर में ऐसी

एक टीस भरी थी कि सुनकर सब लोग विस्मित हो गये; ऐसा लगा मानो माँ का हृदय भारी हो उठा हो। सन्तान ने माँ को आश्वस्त करते हुए बतलाया कि उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है, पर रात में साधारणतया चार रोटी से ज्यादा की आवश्यकता उसे नहीं महसूस होती।

दूसरी घटना है। एक भक्त-सन्तान माँ के घर रह रहा था। वह जिस दिन मेहनत का काम या दण्ड-बैठक, कुश्ती, आदि ज्यादा कर लेता, उस दिन रात में ज्यादा रोटी खा डालता। इसलिए खाना पकानेवाली महराजिन उस पर कुपित थी। एक दिन अपराह्न में महराजिन ने उससे रूखे स्वर में पूछा कि रात में वह कितनी रोटी खाएगा यह ठीक करके बतला दे। महराजिन की बात माँ ने सुन ली। खाने के सम्बन्ध में इस प्रकार के कर्कश वाक्य से उनका हृदय व्यथित हो उठा। उन्होंने महराजिन को लक्ष्य करके दृढ़ स्वर में कहा, "जवान लड़का है, पेट भरके खाएगा। जितना खा सकेगा खाएगा, गिनना-फिनना क्या ? तुमको कुछ करने की जरूरत नहीं, अबसे मैं ही लड़कों को देखूंगी !" माँ की बात से लज्जित और संकुचित हो महराजिन चली गयी और फिर कभी भी रोटी की संख्या के बारे में उसने पूछताछ नहीं की। सबंन खिलाने में ही तो मातृहृदय का सबसे अधिक प्रकाश दिखायी पड़ता है !

(क्रमशः)

०

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (७)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है। स०)

स्थान—रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, बनारस

१ जुलाई १९२०

हम लोगों के बीच श्रीरामकृष्ण का प्रसंग चल रहा था।

स्वामी तुरीयानन्दजी कहने लगे—"ठाकुर ने कहा था, 'माँ, मुझमें यदि कामभाव आए तो मैं गले में छुरी मार लूँगा!' कैसी अपूर्व बात है! एक बार इस आशंका से ठाकुर की छाती धड़क उठी थी। वे उसी क्षण दौड़ते हुए माँ[1] के पास जाकर पछाड़ खाकर गिर पड़े। उनका जैसा विलक्षण मन था, वे अवश्य ही वैसा कर बैठते।[2]—जैसा कहा वैसा वास्तव में कर बैठते। पर जो ऐसे शब्द कह सकता है, क्या उसे माँ कभी उस प्रकार की परिस्थिति में डाल सकती है? ऐसा कह सकने पर अवश्य ही वह अवस्था हो भी जाती है।

'कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।'[3] कैसी सुन्दर बात है!

"बुढ़ापे में यदि कामविकार आए तो बड़ी मुश्किल

---

१. जगन्माता। २. अर्थात् गले में छुरी मार लेते।

३. 'मेरे मन को कामादि दोषों से रहित कर दो।'

है। किसी ने कहा था, बुढ़ापे में ये सब चीजें अधिक मात्रा में प्रकट होती हैं। अन्दर इच्छा है, पर इन्द्रियों की वृत्तियाँ शिथिल हो गयी हैं—यह तो बड़ा कष्टप्रद है। निरोध करने की strength (शक्ति) भी उस समय कम हो जाती है।

"अच्छा, तो आखिर यह काम है क्या? एक विशिष्ट वृत्ति ही न?"

एक भक्त—दुष्ट इन्द्रियों का एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द।

स्वामी जी—इसके भीतर भी तो एक psychology (मनोवैज्ञानिक तत्त्व) है। वह क्या है?—वह है एक हो जाने की इच्छा। यह भी उसी प्रेम का एक aspect (पहलू) है। परन्तु मनुष्य यहाँ भूल कर बैठता है। वह gross (स्थूल) से प्रारम्भ करता है, इसलिए वह इसे उस शुद्ध वस्तु तक नहीं ले जा पाता। परन्तु किसी किसी को इसके भीतर से भी सिद्धि प्राप्त हुई है। जैसे चण्डीदास[४] को। चण्डीदास की कथा सुनी है न?—

'रजकिनीरूप किशोरीस्वरूप कामगन्ध नाहि ताय।'

'कामगन्ध नाहि ताय!'—कैसी विलक्षण बात है! बिल्वमंगल, तुलसीदास आदि की बात कुछ अलग है।

---

४. बंगाल के सुप्रसिद्ध वैष्णव भक्तकवि।

५. 'वह रजकिनी (धोबिन) के रूप में किशोरी (श्री राधिका) ही है, उसमें काम की गन्ध भी नहीं है।' यह बात चण्डीदास अपनी प्रेमिका रामी के उद्देश्य से कहते हैं।

तुलसीदास पहले बड़े स्त्रैण थे। पत्नी नैहर जाने लगी तो तुलसीदास भी पीछे पीछे चलने लगे। पत्नी ने चिढ़-कर कहा, 'इस आसक्ति का एक तिलभर अंश भी यदि भगवान् को दे पाते तो उन्हें पा लेते।' तुलसीदास के मन में तत्काल विवेक जग गया। ऐसे पुरुषों का विवेक इतनी ही बात से जग जाता है। प्रेम और काम ये दोनों बहुत ही पास पास हैं। ठाकुर कहते थे, 'काम अन्धा है, पर प्रेम निर्मल भास्कर!' मनुष्यबुद्धि हो तो काम होता है और भगवद्-बुद्धि हो तो प्रेम।

भक्त—अच्छा, गोपियों के भीतर भी तो पहले भगवद्-बुद्धि नहीं थी, पहले-पहल तो उनकी स्थूल रूप पर ही आसक्ति थी!

स्वामीजी—ऐसी बात नहीं। भागवत में गोपियों के स्तव में दिखायी देता है कि शुरू से ही गोपियों में श्रीकृष्ण के प्रति भगवद्-भाव था। गोपियाँ जब श्रीकृष्ण के पास जाती हैं तो श्रीकृष्ण उन्हें वहाँ से चली जाने के लिए कहते हैं। इस पर वे कहती हैं, 'हम अपने पति, पिता, पुत्र, आत्मीय-स्वजन, मित्र सबको त्याग कर तुम्हारे पास आयीं, अब भला हम जाएँ कहाँ? तुम तो अन्तरात्मा के रूप में सब के भीतर विद्यमान हो!'

"गोपियों का श्रीकृष्ण में सम्पूर्णतया concentration (चित्तैकाग्र्य) हो गया था। एक ही भाव में सम्पूर्ण रूप से concentration हो जाने पर भगवद्-भाव प्रकट होता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह—इनमें से किसी भी

एक के द्वारा तन्मयता प्राप्त हो सकती है। काम के द्वारा—जैसे गोपियों का; क्रोध के द्वारा—जैसे कंस का; भय के द्वारा—जैसे शिशुपाल का; स्नेह के द्वारा—जैसे माता यशोदा का, आदि आदि।

"'कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥'[७]

"परन्तु मन के पूर्ण रूप से शुद्ध हुए बिना क्या यह सम्भव है? तुम भी अजब हो! अरे—

"'प्रेम यदि हय तबे अवश्य भाजन।
आछे क्षुधा, नाहि अन्न, ना हय एमन॥'"[८]

२ जुलाई १९२०

आश्रम में जो वेदान्त की कक्षा चल रही थी, उसके बारे में स्वामी तुरीयानन्दजी ने पूछा, "आज वेदान्तचर्चा हुई?"

भक्त ने कहा—"जी हाँ।"

स्वामीजी — आज क्या हुआ? 'तत्तु समन्वयात्?'[९]

भक्त — जी हाँ 'परिणामी नित्य' और 'कूटस्थ नित्य' इन पर जो विचार है वही हुआ।

---

७. 'काम, क्रोध, भय, स्नेह, नातेदारी या सौहार्द्र के माध्यम से जो हरि से नित्य सम्बन्ध प्रस्थापित कर लेता है, उसकी वे वृत्तियाँ भगवन्मय ही हो जाती हैं।' (श्रीमद्भागवत, १०।२९।२५)

८. 'यदि प्रेम हो तो अवश्य ही कोई प्रेमास्पद होना चाहिए। भूख है पर अन्न नहीं—ऐसा कभी नहीं होता।'

९. 'तथा वह ब्रह्म समस्त जगत् में पूर्णरूपेण अनुगत (व्याप्त) होने के कारण (उपादान भी है)।' (ब्रह्मसूत्र १।१।४)

स्वामीजी – 'परिणामी नित्य' यह शब्द ही 'सोने की पथरौटी' के समान असंगत है। यह शायद सांख्य का मत है न? सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं–प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। यह सृष्टि सत्त्व, रज, तम का ही विकार है। डाक्टर सुरेश भट्टाचार्य ने एक दिन यही बात पूछी थी—'तीन गुणों को लेकर प्रकृति बनी है। इन गुणों में यदि विकार हो तो प्रकृति का प्रकृतित्व ही कहाँ रह गया?' मैंने कहा, 'समूची प्रकृति में तो विकार नहीं होता है न?–कुछ ही अंश में विकार हो रहा है। प्रकृति और विकृत-प्रकृति। जैसे [illegible] जगह दूध से दही बनने पर सर्वत्र सभी दूध का [illegible] बन जाता —कहीं न कहीं दूध बचा रहता ही है।'

"वेदान्त ने पुरुष और प्रकृति को अभिन्न कहा है। (अपने शरीर की ओर निर्देश करते हुए) यहीं पर देखो न, प्रकृति और पुरुष दोनों हैं। जैसे, एक ही चने के भीतर दो दल होते हैं।

" 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥'[10]

" 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह॥
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥'[11]

---

१० 'पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का उपभोग करता है, गुणों का संग ही उसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म का कारण है।' (गीता, १३।२१)

११. 'जो इस पुरुष को तथा गुणों के सहित प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी पुनर्जन्म नहीं लेता।' (गीता, १३।२३)

"आखिर साधना है क्या?—इसी प्रकृति को शुद्ध करना। वैष्णवगण कहते हैं, एकमात्र कृष्ण ही पुरुष हैं, और सब प्रकृति। महाप्रभु कहते थे—'प्रकृति हइया करे प्रकृति-सम्भाषण![12] क्या प्रकृति भी प्रकृति को चाह सकती है? प्रकृति को पुरुषपरायण बनाना होगा। जब मीराबाई ने वृन्दावन में जा सनातन के साथ मुलाकात करनी चाही तो उनके स्त्री होने के कारण सनातन उनसे मिलने को सम्मत नहीं हुए--वे महान् वैरागी जो थे! सुनकर मीरा ने कहा, 'मैं तो यही जानती हूँ कि वृन्दावन में एकमात्र श्रीकृष्ण ही पुरुष हैं। फिर यह दूसरा कौन पुरुष आया? उसे तो अवश्य ही देखना होगा।' फिर दोनों की भेंट हुई। दोनों ही उच्चकोटि के साधक थे, इसलिए दोनों को खूब आनन्द हुआ। सनातन ने उन्हें 'श्रीकृष्ण का लीलास्थान तथा मेरा जन्मस्थान' कहकर प्रणाम किया।

"यदि स्वयं के जीवन के साथ मिलाकर न पढ़ा जाए तो वेदान्त पढ़ने से कोई लाभ नहीं होता।"

ये सब बातें चल ही रही थीं कि इतने में वहाँ एक युवक आया और उसने महाराज को भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। युवक कुमिल्ला का रहनेवाला था। वहाँ किसी महापुरुष के निकट मन्त्रदीक्षा एवं ब्रह्मचर्य-

---

१२. अर्थात् 'स्वयं प्रकृति होकर फिर अन्य एक प्रकृति से सम्बन्ध क्यों रखे!' भक्त हरिदास ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के लिए किसी वृद्ध भक्तमहिला से कुछ चावल माँगे थे। यह सुनकर चैतन्य देव ने कुपित होकर ये शब्द कहे थे।

दीक्षा पाकर ग्यारह वर्ष से चट्टग्राम में कुछ गुरुभाइयों के साथ रहते हुए साधन-भजन तथा सत्संग में समय बिता रहा था।

स्वामीजी (उस युवक के प्रति)—तुममें वैराग्य के चिह्न दिखायी दे रहे हैं। तुम्हारा वैराग्य किस प्रकार का है? यथार्थ वैराग्य या 'कारण' वैराग्य ? यदि किसी कारण से वैराग्य हुआ हो तो उस कारण के दूर हो जाते ही वैराग्य भी चला जाता है। क्या तुम्हें intern (नजरबन्द) किया गया था ?

युवक—जी नहीं।

स्वामीजी—खैर, जो भी हो। वैराग्य उत्पन्न होना --यह तो सौभाग्य की बात है। वैराग्य भला और क्या है? --आत्मानात्म-विवेक। आत्मानात्म-विवेक, प्रकृति-पुरुष-विवेक—ये सब synonymous terms (पर्यायवाची शब्द) हैं!

युवक से काशी में रहने के विषय में पूछने पर वह बोला—"सुविधा हो तो मैं अब काशी में ही रहूँगा।"

स्वामीजी—भीतर सद्भाव विद्यमान रहे तो भारतवर्ष की तो बात ही क्या, सभी देशों में रहा जा सकता है।

"सबै भूमि गोपाल की जामें अटक कहाँ।
जाके मन में अटक है ताके अटक रहा ।।'

--ये एक अत्यन्त महान् व्यक्ति के शब्द हैं? जानते हो किनके ? ये रणजीतसिंह के सेनापति हरिसिंह के शब्द हैं। अफगान की सेना ने frontier (सीमान्त प्रदेश) में

नाना प्रकार के उत्पात मचाना प्रारम्भ किया था। पीछा करने पर वे लोग भागकर अटक के पार निकल जाते। अटक पार करने पर धर्म नष्ट हो जाएगा इस भय के कारण हिन्दुओं के लिए दमन करना एक भारी समस्या बन बैठी। तब हरिसिंह को बुलवाकर इस समस्या के समाधान का परामर्श माँगा गया। उस समय उन्होंने यह बात कही थी। वे अटक पार करके अफगानी सेना को अच्छी तरह से सबक सिखा आये। हरिसिंह वैष्णव थे; परन्तु उन्होंने कैसी ज्ञान की बात कही! तुम सद्भाव लेकर जहाँ कहीं रहोगे, वहीं अच्छे रहोगे। ईश्वर ही एकमात्र सत् हैं—क्या उनके सिवा दूसरा कुछ 'सत्' है?

"तुम्हें और एक छोटीसी कहानी बताता हूँ। याद है न, सीताहरण के पश्चात् दण्डकारण्य में भ्रमण करते हुए राम और लक्ष्मण को एक मनोरम स्थान दिखायी पड़ा। वहीं पर चातुर्मास बिताने की इच्छा से राम ने कहा, 'लक्ष्मण, जरा देख तो आओ यहाँ कोई रहता भी है या नहीं। यदि कोई रहते हों तो बिना उनकी अनुमति के हम यहाँ कैसे रह सकते हैं?' इधर-उधर भटकने के बाद लक्ष्मण को वन में एक शिवमन्दिर दिखायी दिया, परन्तु कहीं किसी मनुष्य का चिह्न मात्र नहीं दिखायी पड़ा। उनके लौटकर राम से यह बात कहते ही राम आनन्दित हो बोले, 'अच्छी बात है, तब शिवजी ही इस स्थान के अधिष्ठाता हैं। उनकी अनुमति ले आओ।' राम के आदेशानुसार लक्ष्मण फिर से उस मन्दिर में गये

और उनके अनुमति माँगते ही शिवलिंग में से एक ज्योतिर्मय पुरुष निकल आये और कुछ देर तक एक विशिष्ट भंगी में नृत्य करने के पश्चात् वे अन्तर्हित हो गये। लक्ष्मण विस्मित होकर लौट आये और राम को सब बातें कह सुनायीं। तब राम बोले, 'कुटिया बाँधो, अनुमति मिल चुकी।' लक्ष्मण ने पूछा, 'वह कैसे?' राम ने कहा, 'रसना और कामवासना को अपने वश में रख यहीं क्यों, जहाँ चाहो वहीं आनन्द से रहो।'

"पृथिव्यां यानि भूतानि जिह्वोपस्थनिमित्तकम्।
जिह्वोपस्थपरित्यागे पृथिव्यां किं प्रयोजनम्॥"[१३]

जो कुछ गड़बड़ है, वह इस रसना और काम ही को लेकर तो है! हिमालय में साधना के अनुकूल कितने ही निर्जन स्थान हैं, पर साधु लोग वहाँ रह क्यों नहीं पाते? —जीभ की बला से। अच्छा खाने के लालच से उन्हें वह सब स्थान छोड़ आना पड़ता है। फिर साधु लोग एक स्थान में शान्ति से जो रह नहीं पाते इसका कारण क्या है?—बहुधा जिह्वा-दोष के कारण लोगों से लड़ाई-झगड़ा कर बैठते हैं, या फिर अच्छा खाने का लोभ या काम का वेग सम्हाल नहीं पाते। इसीलिए साधु यदि एक स्थान पर निरुपद्रव रूप से बारह वर्ष रह सके तो वह 'आसनसिद्ध' है। बारह वर्ष का संयम—क्या यह मामूली बात है?

---

१३. 'पृथ्वी में जितने भी जीव हैं वे सब जिह्वा तथा जननेन्द्रिय से मिलने वाले सुख को ही चाहते हैं, इसको त्याग देने पर पृथ्वी में दूसरा कौनसा प्रयोजन रह जाता है?'

"इन्द्रिय पर विजय पाना बड़ी टेढ़ी खीर है। नारी जब मर जाए और उसकी देह जलकर राख उड़ने लगे, तब कहीं उसके गुण गाये जा सकते हैं---उसके पहले नहीं।' एक किस्सा है। अकबर बादशाह ने एक दिन बीरबल से कहा, 'तुम्हारी माता का कामभाव नष्ट हो चुका है या नहीं, पूछ आओ।' बीरबल की माता की उम्र उस समय अस्सी वर्ष से अधिक हो चुकी थी। फिर भला बीरबल अपनी माता से यह बात पूछे भी कैसे? इधर बादशाह का हुक्म था। बीरबल बड़ी मुश्किल में पड़ गया। उसने आहार-निद्रा त्याग दिया। बीरबल की माता बड़ी बुद्धिमती थी। आखिर वह बीरबल की ही माँ ठहरी—उसकी बुद्धि के बारे में तुम स्वयं समझ सकते हो। वह सब कुछ समझ गयी और बीरबल से बोली, 'कोई चिन्ता नहीं, तू खा-पी। जब तू दरबार को जाएगा तब मुझसे जवाब लेते जाना।' दरबार को जाते समय बीरबल की माँ ने उसके हाथ में एक डिबिया दी और कहा कि इसे बादशाह को दे देना। डिबिया पाकर बादशाह ने उसे खोला। उसके भीतर से एक दूसरी डिब्बी निकली और दूसरी के भीतर से तीसरी। इस प्रकार एक के बाद एक बहुत सारी डिब्बियाँ निकलती गयीं। वे सभी डिब्बियाँ खाली थीं। सब से आखिरी वाली डिबिया में बादशाह को थोड़ीसी राख दिखायी दी। इसका मतलब समझ में आया न?★

★ आशय यह कि जब तक देह जलकर भस्म नहीं हो जाती, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि देह में काम नहीं है।

"रसना और कामवासना को जीत लेने पर सभी झंझट मिट गयी ! महाप्रभु जिस समय संन्यास लेने के लिए केशव भारती के समीप गये, तो केशव भारती ने उन्हें देखकर कहा--'तुम्हारा यह उद्दाम यौवन है, ऐसा अतुलनीय रूप है ! तुम्हें कौन संन्यास देगा !' महाप्रभु बोले--'आप लोग तो अधिकार देखकर संन्यास दिया करते हैं। मैं यदि अधिकारी होऊँ, तो मुझे संन्यास देना ही होगा। आप परीक्षा लेकर देखें--मैं अधिकारी हूँ या नहीं।' तब भारतीजी ने महाप्रभु से कहा, देखूँ तुम्हारी जीभ।' महाप्रभु के जीभ बाहर निकालने पर उन्होंने उस पर थोड़ी चीनी रख दी। पर काफी देर तक वह चीनी जैसी की वैसी ही रही--तनिक भी गीली नहीं हुई। फूँक मारते ही सब की सब उड़कर बिखर गयी। तब और दूसरी किसी परीक्षा की आवश्यकता नहीं हुई।

'"तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावत् जितं सर्वं जिते रसे॥'[१४]

"रसना के जीते जाने पर काम भी जीता गया। इन्द्रियसंयम साध्य हुए बिना कुछ होने की आशा नहीं।

१४. 'जब तक मनुष्य रसनेन्द्रिय को नहीं जीत लेता, तब तक अन्य सभी इन्द्रियों को जीत लेने पर भी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। रसना को जीत लेने पर सभी इन्द्रियां वश में आ जाती है।' (भागवत, ११/८/२१)

समूची गीता में यह बात बारम्बार कही गयी है--

" 'तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
आत्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।' [१५]

"एक भी इन्द्रिय यदि असंयत हो तो सारी तपस्या, सारा आयास व्यर्थ हो जाता है। जैसे घड़े में एक भी छेद रहे तो सा रा पानी उसमें से बह जाता है। ठाकुर की किसान के ईख के खेत में पानी देनेवाली वह कहानी जानते हो न ? गड्ढों में से होकर सारा पानी बह गया, एक बूँद भी पानी खेत में नहीं पहुँचा।

" 'इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तदस्य हरति प्रज्ञां दृते पात्रादिवोदकम् ।।'

" 'रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते।'[१७] क्या जोर-जबरदस्ती से इन्द्रिय-निग्रह हो सकता है ? ईश्वर को प्राप्त कर लेने पर ही सम्पूर्णतः इन्द्रिय-संयम होता है। फिर भी पहले-पहल जबरदस्ती प्रयत्नपूर्वक इन्द्रिसंयम करना होता है। बाद में वही स्वाभाविक बन जाता है।

---

१५. 'अतएव हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन) ! प्रथम तू इंद्रियों का नियमन करते हुए ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी (काम) को नष्ट कर डाल।' (गीता, ३।४१)

१६. 'सब इन्द्रियों में से यदि एक भी इन्द्रिय चंचल हो जाती है, तो उससे मनुष्य का ज्ञान ऐसे ही चला जाता है जैसे चर्मपात्र (मशक) में से जल निकल जाता है।' (मनुस्मृति, २।९९)

१७. 'इस (स्थितप्रज्ञ) पुरुष का तो विषयानुराग भी परम (आत्मस्वरूप) का साक्षात् दर्शन करके निवृत्त हो जाता है।' (गीता, २।५९)

परन्तु तब भी अत्यधिक साहस नहीं करना चाहिए।

"बुद्धिमान व्याध जिस प्रकार मृग को पकड़कर बाँध रखता है, उसी प्रकार इन्द्रियों का संयम करते हुए, शम दम का अवलम्बन करके सावधान रहना चाहिए।"

सिद्धियों के सम्बन्ध में कुछ बातचीत हुई।

पूछने पर पता चला कि आगन्तुक युवक असिघाट पर रहता है। बात बात में मगनीराम बाबा का प्रसंग छिड़ा। उन्होंने प्रायः चालीस साल एकनिष्ठ रहकर, कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया है। इस समय वे संन्यास लेकर दुर्गावाटी के निकट एक बगीचे में रह रहे हैं। महान् त्यागी हैं। किसी के साथ विशेष बातचीत नहीं करते।

तदनन्तर निष्ठा की बात चली। स्वामी तुरीयानन्दजी बोले—दृढ़ निष्ठा न रहे तो वस्तुलाभ होना असम्भव है।"

एक दूसरे युवक साधु की चर्चा छिड़ी। वे भी कठोर तपस्वी हैं। कुछ दिन पहले यहाँ आये थे। इस समय वे मौनधारण कर रहे हैं। उनकी बात चलने लगी।

स्वामीजी – वह यहाँ प्रायः आया करता था, पर मौन रहता था। मैंने एक दिन कहा, मौन-वौन रहकर तो बहुत देख चुके और क्यों ? अब बात चीत करो। कुछ सिद्धि-विद्धि चाहते हो क्या !' वह हँसता था। उसमें खूब दृढ़ता थी। और बड़ा sincere सच्चा था।

(आगन्तुक युवक की ओर निर्देश करते हुए--) "इसे देखकर लगता है कि अभ्यासी लड़का है। (दूसरों की ओर देखते हुए) तुम्हें कुछ समझ नहीं आ रहा है ? पर मुझे स्पष्ट समझ आ रहा है मन स्थिर होने का एक लक्षण है- -दृष्टि स्थिर होना। शकल-सूरत में चंचलता का भाव नहीं होता।

(युवक के प्रति सहास्य) "तुम्हें क्या चाहिए ? सिद्धि-विद्धि तो नहीं न ?

(सब के प्रति) "अन्त तक बच सको तो ही कहा जा सकता है कि बच गये। अन्त तक टिके रहना कठिन है। साधकों के भीतर ये सब सिद्धियाँ कभी कभी अपने आप ही आ जाती हैं। परन्तु उनकी ओर ध्यान दिया कि बस, उनका सब काम तमाम हो गया! वह सिद्धि भी नहीं रह जाती। अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने पर तो कोई बात ही नहीं, दूसरी तरह से उपयोग करने पर भी वह नहीं रह जाती। मनुष्य घर से निकलता है सागर से रत्न निकाल लाने के लिए। किन्तु तट पर पहुँच नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पत्थर, सीपियाँ आदि देख उन्हीं को आँचल में भर ले आता है- समुद्र का रत्न लेना सम्भव नहीं हो पाता। महामाया सब भुला देती है।

"कठोपनिषद् में नचिकेता से यम कहते हैं--

" 'इमा रामाः सरथाः सतुर्याः
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।

अभिमंत्रत्तानि: परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥' १८

फिर देखो नचिकेता क्या कहता है- -

" 'श्वभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वंजीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥' १९

" 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ '20

"यम ने जिस प्रकार नचिकेता को भुलाने का प्रयत्न

२०. 'मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता। जब हमें आपके दर्शन मिल गये तब धन तो हम पा ही लेंगे और जब तक आप शासन करते रहेंगे तब तक हम जीते ही रहेंगे। (अतः यह सब क्यों मांगे?) मेरे मांगने लायक वर तो वही (आत्मज्ञान) है।' (कठ उप.) १।१।२७

१८. 'रथ, वाद्य आदिसहित विद्यमान इन अप्सराओं को ले जाओ। मनुष्यों को ऐसी स्त्रियाँ निःसन्देह दुर्लभ हैं। मेरे द्वारा दी हुई इन स्त्रियों से तुम अपनी सेवा कराओ, परन्तु हे नचिकेता मृत्यु के बारे में मत पूछो।' कठ-उप. (१।१।२५)

१९. 'हे यमराज, आपके द्वारा वर्णित भोग-सुख क्षणभंगुर हैं, वे जीव के सम्पूर्ण इन्द्रियों का तेज क्षीण कर डालते हैं। इसके सिवा, समस्त आयु चाहे वह कितनी भी बड़ी हो, अल्प ही है। इसलिए, आपके ये रथादि वाहन और ये नृत्यगीत आपके ही पास रहें।

(कठ उप. १/१/२६)

किया, उसी प्रकार महामाया सबको भुला देती है। ठाकुर की वह बात जानते हो न? हृदय ने एक दिन ठाकुर से कहा, 'माँ के पास से कुछ सिद्धियाँ माँग लो न!' ठाकुर का बालक जैसा स्वभाव था। उन्होंने माँ के पास जाकर सिद्धियाँ माँगीं। इस पर माँ ने उन्हें भावावस्था में दिखाया -- एक वेश्या मलत्याग कर रही है और माँ उस विष्टा की ओर दिखाती हुई कह रही है - 'यह रही सिद्धि, लेगा.?' ठाकुर ने लौट आकर हृदय को खूब गालियाँ दीं। भला एक बार सोचकर देखो, क्या भयंकर चीज है यह! सचमुच ही ये सब अत्यन्त घृणित वस्तुएँ नहीं तो और क्या हैं? इनमें है ही क्या? ठाकुर कहा करते थे---धोबी भण्डारी।'[21] इनसे तुम्हें क्या? ये ईश्वर की दी वस्तुएँ हैं। तुम्हारे भीतर से एकबार pass (प्रवेश) कराकर चला ले रहे हैं इतना ही। वह हाथी के मरने-बचने की कथा जानते हो न! हाथी मरा या बच उठा, इससे तुम्हें क्या मिला? (युवक के प्रति) यह सब कुछ नहीं, चाहिए भक्ति। भक्ति यदि प्राप्त हो गयी तो फिर और क्या चाहिए? नारद ने एक बार बड़ी कठोर तपस्या की। उस समय उन्हें यह देव वाणी सुनायी पड़ी--

" 'अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं

---

२१. लोगों के मैले कपड़ों से धोबी का भण्डार भरा रहता है; कपड़ों के साफ होते ही भण्डार खाली हो जाता है।

नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।' [22] आदि
'यदि अन्दर-बाहर सदैव हरि ही विराजमान रहें तो फिर तपस्या करते हुए व्यर्थ शरीरशोषण किसलिए करोगे ? और अन्दर-बाहर यदि हरि न हों तो फिर तपस्या करके क्या होगा ?' अर्थात् उन्हीं का अवलम्बन करके तपस्या करनी होगी। परन्तु हमारे देश में आज-कल तपस्या का बड़ा अभाव हो रहा है। कहाँ, अब उस प्रकार की तपस्या की बात तो सुनायी ही नहीं देती। वेदान्त की खिचडी बन जाने के कारण सब ऐसा हो गया है। तपस्या किये बिना क्या वेदान्त का तत्त्व समझा जा सकता है ? यह 'विचारसागर' नहीं, 'बिगाड़-सागर' बन गया है-इसी ने देश को बिगाड़ डाला है। मुँह में लम्बी लम्बी बातें --'सो ही तो है,'

२२. नारद पंचरात्र

'जगत् तो तीन काल मे नहीं है,' अरे राम कहो ! क्या यह भी कोई काम की बात हुई? तपस्या किये विना क्या मजाल है कि वेदान्त समझ में आ जाय ? "

स्नान का समय हुआ स्वामी तुरीयानन्दजी ने युवक से बीच/बीच में आने को कहा। युवक को एक आम दिया' गया।

(क्रमशः)

विभीषण-शरणागति (४/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह अवसर पर 'विभीषण-शरणागति' पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी के चौथे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं।—स०)

'रामचरितमानस' में यह संकेत किया गया है कि सच्चा साधक अपनी साधना से कभी सन्तुष्ट नहीं रहता और इसीलिए उसके जीवन में अशान्ति बनी रहती है। वह कभी, विभीषण के समान, समझौता करने के लिए तैयार नहीं रहता। उसका जीवन अनवरत संघर्ष का जीवन होता है। हो सकता है कभी वह क्षण भर के लिए विश्राम ले ले, पर वह कोई समझौते के लिए नहीं होता, अपितु आगे जीवन-संग्राम से जूझने हेतु शक्ति-संचय करने के लिए ही होता है। इस प्रसंग में आपको एक बात बताएँ।

जब विश्वामित्रजी राक्षसों के अत्याचार से त्रस्त हो महाराज दशरथ के पास उनके पुत्रों को माँगने के लिए आते हैं, तो दशरथ विश्वामित्र पर थोड़ा उलाहना-भरा आक्षेप कर देते हैं, कहते हैं—'बिप्र बचन नहिं

कहेहु बिचारी' (१/२०७/२)। पहले तो राजा ने उदारता दिखाते हुए कह दिया—

केहि कारन आगमन तुम्हारा।
कहहु सो करत न लावउँ बारा॥ १/२०६/८

—मुनिजी, आपके कहने की देर है कि मैं आपकी इच्छा की पूर्ति कर दूँगा। और जब विश्वामित्र मुनि उनके दो पुत्रों की माँग करते हुए कहते हैं—

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा॥ १/२०६/१०

तो राजा घबड़ा जाते हैं। कहते हैं—

चौथेंपन पायउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥ १/२०७/२

—ब्राह्मणदेवता, आपने सोच-विचार कर नहीं माँगा। देखिए, चार ही तो, अवस्थाएँ होती हैं और चार ही बेटे हैं। यह न देने का कितना बढ़िया गणित है। लगता है कि यदि राजा के पाँच बेटे होते, तो सम्भवतः दे देते! वे विश्वामित्र से कहते हैं कि मुझे आप कृपण मत समझिएगा, आप माँगिए, मैं दूँगा। मानो महाराज दशरथ सांकेतिक रूप से उनसे यह कहना चाहते थे कि यदि आप राक्षसों से संत्रस्त होकर आये हैं और यह चाहते हैं कि राक्षसों का बध हो, तो ऐसी स्थिति में आपको मुझसे कहना चाहिए कि तुम सेना लेकर चलो और राक्षसों का विनाश कर दो। आप अगर ऐसी माँग करते, तो हम उसे उचित मानते। पर आप तो दोनों पुत्रों को ले

जाने की माँग कर रहे हैं और कह रहे हैं कि राक्षसों का वध करेंगे। मैं आपकी इस माँग को उचित नहीं मानता।

अब प्रश्न यह है कि विश्वामित्र मुनि महाराज दशरथ को राक्षसों के वध हेतु क्यों नहीं ले जाते? वे उनके दो राजकुमारों को ही क्यों माँगते हैं? इसके पीछे एक गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व भरा हुआ है। देखिए, विश्वामित्र माँगने आये, पर उनके माँगने में कोई दीनता नहीं है। संसार में बहुधा देखा जाता है कि माँगनेवाले में दीनता आ जाती है और देनेवाले में अहंकार। जो माँगने के बाद दीन बन जाय और जो देने के बाद अहंकारी बन जाय, वे दोनों अभागे हैं और कहा जा सकता है कि घाटे का ही सौदा करते हैं। क्योंकि, जो माँगता है, वह आखिर अभाव की पूर्ति के लिए ही तो माँगता है, पर यदि उसमें हीनता आ गयी, तो उसने भला क्या पाया? इसी प्रकार देनेवाले ने देकर यदि अहंकार का अनुभव करते हुए अपने को नीचे गिरा लिया, उसे यदि एक हल्केपन की अनुभूति नहीं हुई, तो उसने देने की क्या सार्थकता पायी? यहाँ विश्वामित्र और महाराज दशरथ के प्रसंग में लेन-देन का सच्चा क्रम दिखाई दे रहा है। विश्वामित्र माँगते तो हैं, पर उनके अन्तःकरण में दीनता का भाव नहीं है। विश्वामित्र की माँगने की कला तो देखिए, कह दिया— 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' और साथ साथ चुनौती भी दे

दी—'देहु भूप मन हरषित' (१/२०७;—राजन्, तुम्हें मेरी माँग पूरी करनी है और हर्षित मन से पूरी करनी है। इस पर महाराज दशरथ कह सकते थे—मुनि, आप जिस वस्तु की माँग कर रहे हैं, उसके देने में भला हर्ष क्योंकर होने लगा? विश्वामित्र गुरु वसिष्ठ की ओर देखते हैं और फिर दशरथ की ओर। गुरु वसिष्ठ तब महाराज दशरथ की ओर देखते हैं और फिर वसिष्ठजी की आँखें विश्वामित्र से मिलती हैं। आँखों ही आँखों में मानो एक घटना की ओर संकेत किया गया। विश्वामित्रजी का तात्पर्य यह था कि राजन्, एक दिन तुम्हारे पास पुत्र नहीं था और तब तुम साधु के पास गये और उससे पुत्र की माँग की। उस साधु ने प्रसन्न हो तुम्हें चार पुत्र दिये। और आज जब एक साधु को तुम्हारे दो पुत्रों की आवश्यकता हो रही है, तो तुम्हें आधा देने में भी संकोच हो रहा है! साधु से जब चार लिया, तो साधु को उसका आधा तो दो, भाई! विश्वामित्र ने याद दिला दी—राजन्, भूलना नहीं, तुम्हें ये पुत्र यज्ञ की कृपा से मिले हैं और आज यज्ञ की रक्षा के लिए ही एक साधु तुम्हारे दो पुत्रों को माँग रहा है। वैसे तो मैं यदि तुम्हारे चारों पुत्रों को यज्ञ की रक्षा के लिए, यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करनेवाले निशिचरों के वध के लिए माँगता, तो भी कोई अनुचित बात नहीं थी। यह विश्वामित्रजी की माँगने की विधि है। इसमें कहीं दीनता नहीं है, कहीं कोई हीनता का भाव नहीं है।

विश्वामित्र मुनि स्वयं राजा दशरथ को इतना योग्य नहीं मानते कि राक्षसों के वध के लिए उन्हें ले जायें, इसीलिए वे उनके दो पुत्रों की माँग करते हैं। यह दशरथ के शौर्य पर एक जबरदस्त कटाक्ष-सा लगता है। मुनि का तात्पर्य यह है कि राजन्, आप एक चक्रवर्ती सम्राट् कहलाते हैं और आपके राज्य में कहाँ क्या हो रहा है, कहाँ राक्षस यज्ञ नष्ट कर रहे हैं इसकी सूचना यदि मुझे आप तक आकर देनी पड़े, इससे बढ़कर लज्जा की बात आपके लिए और क्या हो सकती है? आप कैसे राजा हैं, जो आपके दूत आपको इन सब बातों की सूचना नहीं देते? और आप यदि राज्य के समाचार रखते हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि आपमें बुराइयों को नष्ट करने की स्वतः की कोई प्रेरणा नहीं। तभी तो मुझे यहाँ आकर राक्षसों द्वारा यज्ञ-विध्वंस का समाचार देना पड़ रहा है। और जिस राजा में बुराइयों को दूर करने के लिए स्वतः की कोई प्रेरणा नहीं, उसे मैं साथ ले जाकर क्या करूँगा?

विश्वामित्र दशरथ को बुराई के नाश के लिए सुपात्र नहीं मानते थे, क्योंकि दशरथ समझौतावादी थे। एक समझौतावादी पाप और बुराई से समझौता ही कर सकता है, उन्हें मिटा नहीं सकता। दशरथ ने भला क्या समझौता किया? उनका समझौता दशमुख के साथ था। देश का राजा कौन था—दशरथ या दशमुख? एक सज्जन कहने लगे—लगता है गोस्वामीजी भाँग के नशे में

लिखते हैं; वे कभी दशरथ को चक्रवर्ती सम्राट् लिख देते हैं, तो कभी दशमुख को। जैसे दशरथ के लिए लिखा—'ससुर चक्कवइ कोसलराऊ' (२/१७/३), और रावण के लिए भी लिखा—

भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज तंत्र॥ १/१८२ (क)

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों में चक्रवर्ती सम्राट् कौन है?—दशरथ या दशमुख? यही गोस्वामीजी का व्यंग्य है। दशरथ और दशमुख के बीच एक अलिखित, भीतर ही भीतर का समझौता है—यह वस्तुतः पुण्य और पाप का समझौता है। हमारे जीवन में दोनों का शासन है। क्या आप निर्णय कर सकते हैं कि आपके जीवन में दशरथ का शासन है या दशमुख का? आप यदि विचार करेंगे तो पाएँगे कि दोनों का ही शासन है। दोनों ही समान रूप से चक्रवर्ती सम्राट् हैं—जब जो शासन करने आ जाय, उसी का शासन। इन राजाओं की परम्परा क्या है? जब दशरथजी सेना लेकर जाते, तो सारे राजा भेंट लेकर उनसे मिलने आते और उन्हें सम्मान देते हुए कहते—महाराज! आप ही हमारे राजा हैं। और जब दशमुख महोदय पधारते, तो उसके सामने भी भेंट लेकर उपस्थित हो जाते! इससेदोनों सन्तुष्ट रहते थे। दोनों एक दूसरे से टकराने से बचते थे। दोनों में यह अलिखित समझौता था कि हम तुम्हारा सहेंगे, तुम हमारा सहना। इससे रावण यह

सोचता है कि जब सारे संसार के लोगों ने मेरी अधीनता स्वीकार ली है, तो पड़ा रहे न दशरथ चुपचाप, उसे क्यों छेड़ें, उससे हमारा क्या बिगड़ता है ? हम अपनी मनमानी तो चला ही रहे हैं, हो तो वही रहा है, जो हम चाहते हैं, दशरथ नाम भर का राजा बना पड़ा रहे न, हमें क्या हानि ? इधर दशरथ महोदय यह सोचकर प्रसन्न हो जाते हैं कि जब रावण हमसे नहीं लड़ता, तो हमीं को क्या पड़ी है कि जाकर उससे भिड़ें ! यह सुविधावादी समझौता है, जो व्यवहार में सर्वत्र चला करता है। पर यदि परम सत्य को पाने का आग्रही साधक भी ऐसा समझौता करने बैठ जाय, तब वह राक्षसत्व का विनाश कैसे करेगा ? वह कैसे बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करेगा ? इसीलिए विश्वामित्र दशरथ पर जो कटाक्ष करते हैं, वह बिलकुल सही है। उनका तात्पर्य यही था कि राजन् तुम राक्षसों को क्या मिटाओगे ? यदि मिटानेवाले होते, तो मुझे यहाँ आने की आवश्यकता न पड़ती, तुम स्वयं होकर इसके लिए सन्नद्ध होते, रावण के विरुद्ध युद्ध छेड़ते, राक्षसों का बिना मेरे कहे ध्वंस करते ! पर दुःख तो यह है कि तुममें इसके लिए स्वतः प्रेरणा है कहाँ ?

दशरथ के जीवन की यही विडम्बना थी। उनके जीवन में समझौता ही समझौता भरा था, इसीलिए इतने महापुरुषों के होते हुए भी वे रामराज्य नहीं बना पाए। समझौते की वृत्ति उनमें इतनी भरी हुई थी कि वे पहले

एक निर्णय तो करते, पर उसके बाद समझौता कर लेते थे। सुबह निर्णय किया कि राम को राज्य देंगे, पर रात्रि में उनका निर्णय बदल गया। उनके स्वभाव की यही बाध्यता थी, जो रामराज्य के निर्माण में आड़े आती है। कैकेयी ने कह दिया—

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं॥ २/३३

—आप अपना वचन पूरा कीजिए, देखिए कि प्रातः-काल होते ही राम मुनि का वेष धारण कर वन को चले जायँ! बस, महाराज दशरथ कैकेयी के सामने झुक जाते हैं, वे निर्णय नहीं कर पाते कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं। वे शंकरजी से प्रार्थना करते हैं—

आसुतोष तुम्ह अवढर दानी।
आरति हरहु दीन जनु जानी॥२/४३/८

तुम्ह प्रेरक सब के हृदयँ सो मति रामहि देहु।
बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु॥ २/४४

—हे शंकरजी, ऐसी कृपा करो कि राम मेरी बात टाल दे! "अरे भाई, राम से क्यों बात टलवाते हो, आप ही कह दो न कि मत जाओ?" "कैसे कहूँ, लोग क्या कहेंगे?" दशरथजी का मन्तव्य यह है कि मैं सत्यवादी भी कहलाता रहूँ और राम भी वन न जाए—ये दोनों बातें एक साथ सध जाएँ। वे ऐसा विचित्र-सा समझौता करना चाहते हैं। उनके जीवन का यह जो दुर्बल-पक्ष है, उसकी आलोचना करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

सूल कुलिस असि अँगवनिहारे ।
ते रतिनाथ सुमन सर मारे ॥
सो मुनि तिय रिस गयउ सुखाई ।
देखहु काम प्रताप बड़ाई ॥ २/२४/४-३

——महाराज दशरथ ऐसे हैं, जो राम और काम दोनों को अपने जीवन में स्थान देते हैं। राम के पिता होते हुए भी हृदय में काम को रखते हैं। पर साधक का जीवन तो राम और काम से मिलकर नहीं बनता। गोस्वामीजी ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि——

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहुँ न रहि सकहिं रवि रजनी इक ठाम ।।

——राम और काम एक साथ नहीं रह सकते। महाराज दशरथ कल प्रातःकाल राम का राज्य बनाना चाहते हैं, पर आज रात्रि उनके हृदय में तो काम का राज्य छाया हुआ है। वे काम को लेकर कैकेयी के पास जाते हैं और उनसे जो भाषा बोलते हैं, वह क्या एक चक्रवर्ती सम्राट् की, एक महान् धर्म और सत्य धुरन्धर महापुरुष की भाषा हो सकती है? वह तो एक कामी की भाषा मालूम होती है——

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि ।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनी निज कोप कर ॥२/२५

और कैसी डींग हाँकी जा रही है——

कहु केहि रंकहु करौं नरेसू ।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू ॥२/२५/२

सकउँ तोर अरि अमरउ मारी ।

काहू कीट बपुरे नर नारी ॥२/२५/३

—बताओ किस दरिद्र को राजा बना दूँ, किस राजा को कान पकड़कर देश से निकाल दूँ। तुम्हारा कोई शत्रु यदि अमर भी हो, तो उसे भी मार सकता हूँ! अब यह डींग नहीं तो और क्या है? जो अमर है, वह कैसे मरेगा? पर काम की चपेट में राजा अनर्गल प्रलाप किये जा रहे हैं। और मनुष्यों को तो उन्होंने कीड़े-मकोड़े बना दिया। उधर प्रजा के सामने तो भाषण देते हैं कि— **'जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना'** (२/१७१/४) और इधर घर में भाषण देते हैं— **'काहू कीट बपुरे नर नारी'** (२/२५/३)! ऐसा दुहरा रूप जब तक जीवन में बना रहेगा, जब तक जीवन में राम और काम का मेल चलता रहेगा, तब तक व्यक्ति रामराज्य नहीं बना सकेगा। ऐसा व्यक्ति दशमुख का विरोधी हो सकता है, पर उसका विनाशक नहीं हो सकता।

इस परिप्रेक्ष्य में श्री भरत का चरित्र ऐसा है, जहाँ कोई समझौता नहीं—न मोह से, न अहंकार से। वे जितने कोमल हैं, उतने ही कठोर सिद्धान्तवादी भी। एक ओर जहाँ वे किसी से कोई समझौता नहीं करते, वहाँ दूसरी ओर वे समझौता न करने का प्रदर्शन भी नहीं करते। साधक अपनी साधना का प्रदर्शन नहीं करता। गोस्वामीजी एक सुन्दर संकेत देते हैं। जब हनुमान्‌जी लंका की ओर जा रहे थे, तो सोने का पर्वत आया। मानो भक्ति-

देवी की खोज के रास्ते सोने का पहाड़ मिल गया। एक साधक तो वह है, जो सोने का पर्वत पाकर प्रसन्न हो जाय और रुक जाय, सोचने लगे आगे जाकर क्या लाभ, जो मिल रहा है उसे तो ले लें, फिर कुछ मिले या न मिले; और दूसरा साधक वह हो सकता है, जो कहे कि मैं तो धन को ठोकर मारता हूँ। पर हनुमान्‌जी क्या इन दोनों में से किसी के समान हैं ? क्या वे सोने के पर्वत पर रुक गये अथवा सोने के पर्वत को ठोकर मारी ? हनुमान्‌जी क्या करते हैं ?—

हनूमान् तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम। ५/१

—वे उस पर हाथ फेर देते हैं, मानो कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं और उसके बाद उसके प्रणाम करते हुए कहते हैं—

राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ॥५/१

हनुमान् जी में न तो संग्रह की आसक्ति है, न त्याग का प्रदर्शन। उनके जीवन में सन्तुलन है और यह सन्तुलन का तत्त्व ही साधक की विशेषता है। यदि साधक धन में लिपट गया, तब तो उसका पतन हुआ ही, पर यदि उसने धन को ठुकराने का स्वाँग किया, तो भी उसका पतन हुआ। यदि कोई पहाड़ को लात मारे, तो उसे क्या चोट नहीं आएगी ? अतः ठुकराने का स्वाँग करना भी उतना ही खतरनाक है, जितना धन में लिपट जाना। भरतजी के चरित्र में भी ऐसा ही सन्तुलन दिखायी देता है। वे न तो समझौता करते हैं और न प्रदर्शन ही कि हम बड़े

सिद्धान्तवादी हैं। उनके सामने भी समझौते की बात रखी जाती है। जब महाराज दशरथ का निधन-समाचार पाकर वे ननिहाल से लौटे, तो गुरु वसिष्ठ को पता चला कि कैकेयी ने अयोध्या का जो राज्य अपने पुत्र भरत के लिए माँगा और श्री राम को वनवासी बना दिया, श्री भरत उस राज्य को लेना नहीं चाहते। तब गुरु वसिष्ठ भरत के समक्ष एक समझौते का प्रस्ताव रखते हैं, कहते हैं—भरत देखो, तुम्हारे पिताजी ने राज्य तुम्हें दिया है। अतः तुम्हें पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए—

राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा।
पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥ २/१७३/३

और जब राम आ जायँ, तो राज्य उन्हें सौंप देना—सौंपेहु राजु राम के आएँ' (२/१७४/८)। पर अभी तो ले लो। कितना बढ़िया समझौता सुझाया गुरु वसिष्ठ ने! —संसार भी बच जाय और भगवान् भी मिल जायँ! पर श्री भरत कितने जागरूक हैं। उनकी दृष्टि में यह समझौता अन्याय और न्याय में है—वह समन्वय नहीं है। समन्वय अच्छा है और समझौता बुरा। जीवन में समन्वय होना चाहिए, समझौता नहीं। समन्वय ज्ञान-भक्ति-कर्म का होता है, पाप-पुण्य का नहीं। पर हम लोग हैं, जो जीवन में पाप और पुण्य का समन्वय करते रहते हैं। लोगों ने भी श्री भरत से ऐसे ही समन्वय का आग्रह किया—जो गुरु वसिष्ठ ने कहा था, उसे दुहराया। पर भरत जानते हैं कि वे लोग समन्वय का नहीं, सम-

झौते का आग्रह कर रहे हैं। वे जानते हैं कि पिताजी ने उन्हें राज्य किस दशा में दिया है। यह तो वैसे ही है जैसे कोई किसी के सीने पर पिस्तौल तानकर खड़ा हो जाय और कहे कि जो हम कहें वैसा कहते जाओ। अब यह जो व्यक्ति बिचारा कह रहा है, वह स्वयं कह रहा है या पिस्तौल कहवा रहा है? उसका बस चले तो वह वह सब कुछ न कहे, जो उससे कहलवाया जा रहा है, वह तो अपनी बात कहे। इसी प्रकार भरतजी जानते हैं कि पिताजी ने वह सब नहीं कहा, जिसका उल्लेख गुरु वसिष्ठ करते हैं, अपितु कैकेयी अम्बा ने अन्यायपूर्ण ढंग से पिता को यह कहने को बाध्य किया कि राज्य भरत को देता हूँ। हमारे पिताजी तो हृदय से चाहते थे कि श्री राम का राज्य हो। अतः पिताजी की इच्छा की पूर्ति मेरे राज्य-ग्रहण से नहीं होगी, बल्कि श्री राम को राज्य देने से होगी। भरतजी ने धर्म को शब्द के कारागार से मुक्त किया।

शब्द या तो कारागार है या घर। कारागार भी घर की तरह ही ईंट और पत्थर का बना होता है, पर दोनों में अन्तर है। कारागार में परतंत्रता है और घर में स्वतंत्रता। जहाँ पर हम शब्द को कारागार न बनाकर भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं, वहाँ पर शब्द एक घर के रूप में धर्म को सुरक्षा प्रदान करता है, पर जहाँ पर हम शब्दों को केवल पकड़ने के काम में लाते हैं, उनके यथार्थ मर्म में नहीं घुसते, वहाँ वे

कारागार बन जाते हैं और धर्म को कैद में डाल देते हैं। भरत का मन्तव्य यह था कि यह जो पिताजी के सत्य की बात कही जा रही है, वह सत्य वह नहीं था, जो उनकी वाणी से प्रकट हुआ था, बल्कि वह तो उनके हृदय में था।

मुझे एक घटना याद आती है। बहुत वर्ष पहले जब मैं कथा नहीं कहता था, तब बचपन में मैंने एक कथा सुनी थी। काशी में एक विद्वान् कथा कह रहे थे। उन्होंने एक प्रसंग सुनाया। भगवान् राम ने सुग्रीव के निमित्त कहा—

जेहि सायक मारा मैं बाली।
तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली ॥४/१७/२

कथाकार महोदय कहने लगे—"लोग इसका साधारणत: जो अर्थ करते हैं कि 'जिस बाण से मैंने बालि को मारा था, उसी बाण से कल में मूर्ख सुग्रीव का वध करूँगा,' यह सरासर गलत है; क्योंकि ऐसा अर्थ लेने से तो भगवान् राम ने अवश्य सुग्रीव का दूसरे दिन वध कर दिया होता, अन्यथा वे असत्यवादी हो जाते। इसका अर्थ यों लेना चहिए—भगवान् राम ने कहा, 'जिस बाण से मैंने बाली को मारा था, उसी बाण से मैं यदि सुग्रीव को मारूँ (तेहि सर हतौं), तो लोग कल मुझे मूर्ख कहेंगे (मूढ़ कह काली)।' इसलिए मैं उसे नहीं मारूँगा।" बस, क्या था, श्रोता प्रसन्न हो गये कि ऐसा अर्थ करने से तो भगवान् राम का सत्य सचमुच बच

जाता है ! पर वे यह न समझ पाये कि शब्द ने सत्य को कैसे कारागार में डाल दिया है। भगवान् राम ने जिन शब्दों का उच्चारण किया, उन्हें नहीं देखना है। उन शब्दों के कहने के पीछे उनका भाव क्या है यह देखना है। अन्यथा वह तो ऐसा ही हो जायगा, जैसे कोई डाक्टर कहे—कल इस रोगी के इस अंग का हम आपरेशन करेंगे, और संयोग से रात में वह फोड़ा ठीक हो जाय या फिर डाक्टर को पता चल जाय कि जिस रोग के निदान के लिए वह आपरेशन की बात सोच रहा था, वह तो है हो नहीं, फिर भी वह हठ करने लगे कि नहीं, मैं तो सत्यवादी हूँ, भले ही रोग ठीक हो गया हो, पर मैं तो अपनी बात की रक्षा के लिए उसका आपरेशन करूँगा ही करूँगा ! अब ऐसे सत्यनिष्ठ डाक्टर को आप मूर्ख कहेंगे या पागल? तात्पर्य यह है कि भगवान् राम के शब्दों को नहीं पकड़ना है, उनके कथन में निहित भाव को देखना है। उनका अभिप्राय यह था कि सुग्रीव विषयी हो गया है, अगर यह मुझे भुला देगा और भक्ति की खोज में, नहीं लगेगा, तो इसे मार डालूँगा। उन्होंने भले ही यह कहा हो कि कल मारूँगा, पर उन्हें शब्द की चिन्ता थोड़े ही है। लक्ष्मणजी ने जब इस पर कहा कि कल क्यों, अभी जाकर न मार दें, तो प्रभु बोले—न, न, अभी नहीं। प्रभु का संकेत यह है कि मेरे शब्दों पर नहीं, भाव पर ध्यान दो। वे लक्ष्मणजी को

समझाते हैं कि सुग्रीव को मारना नहीं है, भय दिखाकर यहाँ ले आना है—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव ।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥ ४/१८

तो, भगवान् राम का तात्पर्य सुग्रीव को मारने से नहीं था, उसके प्रमाद को दूर करने से था। इसी को भरतजी 'धर्मसार' कहते हैं। वे धर्म का वास्तविक अर्थ समझते हैं, इसीलिए उन्होंने गुरु वसिष्ठ के कहने पर भी समझौता नहीं किया। उनके समक्ष ईश्वर की भी दुहाई दी गयी—

करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू ।
रामहि होत सुनत संतोषू ॥ २/२०६/८

पर भरत अपने निर्णय से टस से मस न हुए। संसारी लोग जब समझौता करना चाहते हैं, तब ईश्वर से लेकर गीता, रामायण तक जितनी दुहाई दे सकते हैं, दे डालते हैं। पर भरत किसी भी प्रकार के समझौते के लिये राजी नहीं होते। जब उनसे कहा गया कि तुम्हारे पिता कितने महान् थे और तुम उनकी बात न सुनोगे, तो वे विनयपूर्वक पर दृढ़ शब्दों में, पिता के प्रति आदरभाव व्यक्त करते हुए भी, यह कहने से नहीं चूके कि हाँ, हमारे पिताजी निस्सन्देह महान् थे, पर—'मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही' (२/१६१/३)—मृत्यु के समय विधाता ने उनकी बुद्धि हर ली थी। सुनकर सारा समाज सन्न रह गया। भरतजी ने सबको सम्बोधित करते हुए कहा, आप सब मुझे राज्य लेने

के लिए कह रहे हैं, गुरुदेव कह रहे हैं, मंत्रीगण कह रहे हैं, माताएँ कह रही हैं, पर क्या आप सोचते है कि मैं राज्य को सँभाल लूँगा ? आप लोगों की यह सब अनुचित बात सुनते ही मैंने भाँप लिया कि आप लोग नहीं बोल रहे हैं, अपितु आपके मुँह से मोह बोल रहा है—'तुम्ह चाहत सुखु मोहबस मोहि से अधम कें राज' (२/१७८)। पिताजी और माताजी की बात होती, तो मैं मान लेता, पर जब इनके मुँह से मोह बोलने लगे, तो मैं माननेवाला नहीं।

तो, भरत का जीवन सही अर्थों में धर्मसार है, इसीलिए उन्होंने आज्ञापालन का शाब्दिक अर्थ नहीं लिया, जैसा कि अधिकांश लोग लिया करते हैं और अपने जीवन को नाना प्रकार के प्रलोभनों और समझौते की वृत्तियों से भर लेते हैं। उन्होंने आज्ञापालन का सही अर्थ लिया और चित्रकूट की ओर चल पड़े। यदि भरतजी ने कहीं समझौता कर लिया होता, तो यह एक विवाद की बात होती कि चौदह बरस बाद भगवान् राम अयोध्या लौटते या न लौटते। वाल्मीकि रामायण में एक सुन्दर बात आयी है कि जब भगवान् राम पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं, तो अयोध्या में आने से पूर्व वे हनुमान्‌जी को वहाँ का अन्दरूनी हाल-चाल पता लगाने के लिए भेजते हैं। वैसे तो 'रामचरितमानस' में भी हनुमान्‌जी के भेजने की बात आयी है, पर वाल्मीकि रामायण में भगवान् श्री राम हनुमान्‌जी को निर्देश देते हैं कि तुम सीधे

भरत के पास न चले जाना, जाकर देखना कि भरत का मन राज्य में लगा है या नहीं। यदि लग गया होगा, तो तुम लौट आना, मैं तब नहीं जाऊँगा। हम तो यही चाहते हैं कि भरत आनन्द से राज्य करे। पर यदि देखो कि भरत मेरे बिना व्याकुल है, तो हम चलेंगे। इसीलिए तो हमने कहा कि यदि भरत ने गुरु वसिष्ठ और मंत्रियों की बात मान ली होती, तो चौदह बरस बाद श्री राम अयोध्या वापस जाते या न जाते, कौन कह सकता है। यदि जाते भी, तो चौदह बरस तक ईश्वर से मिलन तो टल ही जाता। यह तो भरत का दृढ़ निश्चय था, जो उन्हें समझौते से विरत करता है और उन्हें श्री राम से चित्रकूट में मिलाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

> आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
> देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥ २/१८२

पर विभीषण का दुर्भाग्य था कि उनके जीवन में समझौता आ गया। उन्होंने मोह और अहंकार से समझौता कर लिया। रावण उनकी पूजा-उपासना का विरोध नहीं करता और वे रावण के पाप का विरोध नहीं करते। उनके जीवन में यह जो पाप और पुण्य का समझौता हुआ, उसने उनको भगवान् राम से इतने दिनों तक दूर रखा। जिन विभीषण ने अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में भगवान् शंकर से भक्ति का वरदान माँगा था, वे ही विभीषण अपने इस समझौते की वृत्ति

के कारण अब तक प्रभु तक नहीं पहुँच पाये ! इस समझौते को हनुमान्‌जी आकर तुड़वाते हैं। वह तो वैराग्य है, सन्त है, जो पाप और पुण्य के समझौते का भंग कराता है। सन्त साधक को विवेक देता है, जिससे वह पाप के छल को पहचान सके और उससे अपना नाता तोड़ सके। हनुमान्‌जी ने विभीषण को यह विवेक दिया, जिसके बल पर वे रावण की दुरभिसन्धि को पहचान कर रावण से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर सके। तब तक विभीषण रावण को प्रशंसा की दृष्टि से ही देखते थे कि देखो, हमारे बड़े भाई हमारे प्रति कितने उदार हैं। वे भले ही ईश्वर को नहीं मानते, पर हमारे लिए तो हरिमन्दिर बनवा दिया है और हमें पूजा-उपासना की छूट दे रखी है। वे कितने सहिष्णु हैं ! पर क्या रावण ने सचमुच सहिष्णुता के कारण विभीषण को पूजा की सुविधा दी थी ? विभीषण रावण के बर्ताव का ठीक ठाक अर्थ नहीं समझ पाये थे। यह तो हनुमान्‌जी थे, जिन्होंने विभीषण को रावण के आचरण का सही अर्थ समझाया। बात यह थी कि जब शंकरजी विभीषण को वरदान देने लगे, तो रावण कान लगाकर सुनने लगा कि देखें तो, विभीषण क्या माँगता है ? और जब उसने सुना कि विभीषण ने तो भगवान् के चरणों में भक्ति का वरदान माँगा है, तो वह सोच में पड़ गया। विचार करने लगा—यदि मैं विभीषण को भक्ति न करने दूँ, तो उससे मेरी बड़ी हानि है, क्योंकि तब

विभीषण के सन्दर्भ में शंकरजी का दिया वरदान झूठा हो जायगा और इसलिए सम्भव है, मुझे दिया हुआ वर-दान भी झूठा हो जाय। रावण की यह आशंका ही उसे विभीषण के प्रति सहिष्णु बनाती है। वह पक्का स्वार्थी है। उसका सारा गणित स्वार्थ का है। विभीषण इसे समझ नहीं पाते। हनुमान्‌जी आकर विभीषण को रावण का गणित समझाते हैं और यह भी प्रयास करते हैं कि विभीषण ने रावण के साथ जिस समझौते को संजोकर रखा है, वह टूट जाय।

हम पढ़ते हैं कि हनुमान्‌जी लंका में आग लगा देते हैं। उन्होंने आग कैसे लगायी ? पहले तो उन्होंने अशोक-वाटिका उजाड़ दी और फिर नागपाश में बँधकर रावण की सभा में आये। वहाँ रावण हनुमान्‌जी की बात से चिढ़कर अपने अनुचरों को आज्ञा देता है—देखते क्या हो, बन्दर को मार डालो। ज्योंही सेवक तलवार लेकर हनुमान्‌जी को मारने आते हैं कि विभीषण दरबार में उपस्थित होते हैं और कहते हैं—'**नीति बिरोध न मारिअ दूता।**' (५/२३/७)। इस पर रावण हँसकर कहता है—ठीक है, कोई बात नहीं, जब हमारे छोटे भाई कह रहे हैं तो बन्दर को मारो मत। एक काम करो, इसकी पूँछ में कपड़ा लपेटकर, उस पर अच्छी तरह तेल डालकर आग लगा दो। विभीषण यह सुन गद्‌गद हो जाते हैं और सोचते हैं कि मेरे बड़े भैया मेरी बात का कितना मान रखते हैं। वे रावण की धूर्तता नहीं समझ पाते। रावण

ने तो यह सोचकर पूँछ में आग लगाने की बात कही थी कि उससे आग केवल पूँछ तक तो रहेगी नहीं बल्कि वह आगे बढ़ेगी और धीरे—धीरे बन्दर को भी जलाकर खाक कर देगी। तब वह विभीषण से कह देता कि भइ हमने तो तुम्हारी बात मानकर ही बन्दर की पूँछ को जलाने की आज्ञा दी थी, अब बन्दर धोखे से मर गया तो हम क्या करें? और कदाचित् बन्दर न मरे, तो विभीषण पर और भी सिक्का जम जाय कि रावण कितना उदार है। और सचमुच, विभीषण ने इस घटना का यही अर्थ लिया कि देखो, रावण मेरे प्रति कितने उदार हैं, मुझसे कितना प्रेम करते हैं. मेरे कहने की देर थी कि उन्होंने बन्दर को दिये गये मृत्युदण्ड की आज्ञा को वापस ले लिया। विभीषण को इस घटना में रावण का गुण ही दिखायी पड़ा। पर हनुमान्‌जी ने इसे एक भिन्न दृष्टि से देखा। उन्हें इसमें प्रभु का कौतुक ही दीख पड़ा। उन्होंने मन ही मन कहा—प्रभु, जब त्रिजटा ने कहा था कि बानर लंका को जलाएगा, तो मैं सोच न सका था कि लंका को जलाने के लिए मैं कहाँ से घी-तेल-कपड़ा लाता, कहाँ से आग लाता। यह तो तुमने रावण के द्वारा ही सारी व्यवस्था करा दी। तुम बड़े चमत्कारी हो, प्रभु! इस प्रकार एक ही घटना में विभीषणजी को रावण की उदारता दीख पड़ी, तो हनुमान्‌जी को भगवान् का चमत्कार। हनुमान्‌जी ने सोचा कि मैंने तो घटना का सही अर्थ ले लिया, पर यह नया सत्संगी

ठीक अर्थ नहीं ले पा रहा है। विभीषणजी नये सत्संगी थे न, उनका हनुमान्‌जी से एक ही दिन का तो सत्संग हो पाया था। जिससे विभीषण ठीक ठीक अर्थ लगा सकें, हनुमान्‌जी ने सारी लंका जला दी और विभीषण का घर जान-बूझकर छोड़ दिया—

जारा नगरु निमिष एक माहीं।
एक विभीषण कर गृह नाहीं ॥ ५/२५/६

बस, क्या था रावण क्रोध में काँपने लगा। उसने सोचा कि विभीषण और बन्दर दोनों मिले हुए हैं; जब मैंने बन्दर को मृत्युदण्ड दिया, तो विभीषण ने उसे बचा दिया और जब उसने लंका जलायी, तो विभीषण का घर छोड़ दिया। विभीषण पर से रावण का विश्वास जाता रहा। इससे विभीषण और रावण के बीच जो समझौता था, वह टूट गया। तब कहीं विभीषण के जीवन में शरणागति आ पायी। याद रखिए, जब साधक सही दृष्टि लेकर स्वार्थ से समझौता तोड़ता है तब कहीं वह भगवान् की शरण में जाने का अधिकारी होता है।

०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(दो/४८, डाक-तार नगर, भोपाल)

(१) समो मानापमानयो:

सन्त ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठलपन्त को जब संसार से विरक्ति हुई, तो उन्होंने संन्यास धारण करने का निश्चय किया और वे पत्नी के साथ काशी चले गये, जहाँ उन्होंने श्रीपाद स्वामी से दीक्षा ली। संन्यास-ग्रहण करने के पश्चात् भी पत्नी का त्याग न करने पर आलन्दी ग्राम के निवासियों ने उनका बहिष्कार कर दिया। इतना ही नहीं, उनके निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान तथा मुक्ताबाई इन बच्चों को लोग 'संन्यासी की सन्तान' कहकर चिढ़ाने लगे। ये बालक जब भिक्षा माँगने जाते, तो उन्हें कोई भी भिक्षा न देता और फलतः उन्हें खाली हाथ लौटना पड़ जाता। यह अपमान बालक ज्ञानेश्वर के लिए असहनीय था। वह हमेशा उदास रहा करता। एक दिन जब उसे किसी ने भी भिक्षा न दी, तो उसे गुस्सा आ गया और वह बोला, "मैं भी यहाँ नहीं रहता और काशी जाऊँगा।" निवृत्ति ने सुना, तो उससे कहा, "ज्ञान, इतना गुस्सा ठीक नहीं।" उसके उक्त उद्गार बाहर से आ रही मुक्ताबाई ने भी सुने, तब उसकी वाणी काव्य रूप में इस प्रकार स्फुरित हुई—

विश्व रागे झाले वह्नी। आपण सुखें व्हावें पाणी

योगी पावन मनाचा । सही अपराध जनांचा
जीभ दातांची चावली । कोणे बत्तिशी पाडिली
इतके ऐकुनी शांती धरा । तारी उघडी ज्ञानेश्वरा।
आपण विश्व तरुणी तारा । तारी उघडी ज्ञानेश्वरा

—अर्थात् सारा विश्व क्रोध से अग्नि बन जाए, तो हमें जल बनना चाहिए । पावनहृदय योगी लोगों के अपराध सहता ही है । यदि दाँत जीभ को काट देते हैं, तो क्या व्यक्ति अपने दाँतों को उखाड़ देता है ? मेरे भाई, जरा शान्ति से काम लो और द्वार खोलो । स्वयं को तारकर विश्व को भी तारो और दरवाजा खोलो ।

मुक्ताबाई की यह उपदेश-वाणी सुन ज्ञानदेव शान्त हो गये । वे झोपड़ी से तुरन्त बाहर आये और उन्होंने बहन को गले लगा लिया ।

(२) करम गति टारे नाँहि टरै

एक बार एक व्यक्ति गुरु नानक के पास आया और उसने कहा कि वह किसी महात्मा की संगति करना चाहता है, इसलिए वे किसी योग्य महात्मा का नाम बताएँ । गुरु नानक ने उसे लालो बढ़ई के पास भेज दिया ।

वह व्यक्ति जब लालो के पास गया, तो उसे यह दिखायी दिया कि वह चारपाई के पायों की सीढ़ी बना रहा है और अन्तिम संस्कार का सामान पास में ही पड़ा हुआ है । उस व्यक्ति को आश्चर्य हुआ कि यह गृहस्थ व्यक्ति महात्मा कैसे हो सकता है ? उसने जिज्ञासावश लालो से पूछा कि किसके अन्तिम संस्कार की तैयारी

हो रही है, तब लालो ने बताया कि उसके लड़के के शरीर पर से गाड़ी का पहिया चले जाने से उसकी मृत्यु हो गयी है।

"ऐसा कैसे हो गया?" उस व्यक्ति ने प्रश्न किया। लालो ने जवाब दिया, "जो भाग्य में लिखा है, वही होता है। शायद सद्गुरु की यही मर्जी थी।"

"यह तो बहुत बुरा हुआ," वह व्यक्ति बोला।

"बुरा हुआ होगा, लेकिन सद्गुरु की यही इच्छा थी। अब देखो न, मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि सद्-गुरु की इच्छा है कि आज के आठवें दिन तुम्हें फाँसी पर चढ़ाने का मौका आएगा।"

उस व्यक्ति ने जब यह सुना, तो बेहद घबरा गया और डर के मारे सातवें दिन जंगल की ओर रवाना हो गया। रास्ते में जब उसे नींद आने लगी, तो वह एक पेड़ के नीचे जाकर सो गया। संयोग से वहाँ कुछ चोर आये और चोरी का माल आपस में बाँटने लगे। जब केवल एक माला बची, तो उसे इस व्यक्ति के गले में डालकर भाग गये। थोड़ी ही देर में चोरों का पीछा करते हुए वहाँ कुछ सिपाही आये तथा चोरी की माला उस व्यक्ति के गले में देख उसे चोर समझ पकड़ ले गये। राजा ने भी जब चोरी की माला देखी, तो उसे फाँसी की सजा सुना दी।

उस व्यक्ति से जब उसकी अन्तिम इच्छा पूछी गयी, तो उसने लालो बढ़ई से मिलने की इच्छा व्यक्त की।

उसे जब लालो के पास ले जाया गया, तो उसने उसके पैर पकड़े और फाँसी से बचाने के लिए वह गिड़गिड़ाने लगा। तब लालो ने उससे कहा, "देखा, भाग्य में जैसा लिखा रहता है, वैसा होता है या नहीं? अब तो गुरु नानक साहिब का स्मरण करो। यदि उनकी मर्जी होगी, तो बच जाओगे।"

उस व्यक्ति ने नानक देव का स्मरण किया और थोड़ी ही देर में खबर आयी कि असली चोर पकड़े गये हैं और उन्होंने यह कबूल कर लिया है कि एक माला उन्होंने पेड़ के नीचे सोये एक व्यक्ति के गले में डाल दी थी। राजा ने जो सुना, तो उस व्यक्ति को रिहा करने के आदेश दिये। उस व्यक्ति को प्रतीति हो गयी कि भाग्य में जो लिखा होता है, वह होकर रहता है। उसे लालो के भी प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गयी तथा उसने उनके साथ सत्संग करना शुरू किया।

(३) सूली ऊपर सेज पिया की

एक बार गौतम बुद्ध सिसवा वन में पर्ण-शय्या पर विराजमान थे कि हस्तक आलबक नामक एक शिष्य ने वहाँ आकर उनसे पूछा, 'भन्ते! कल आप सुखपूर्वक सोये ही होंगे?"

"हाँ, कुमार, कल मैं सुख की नींद सोया।"

"किन्तु भगवन्! कल रात तो हिमपात हो रहा था और ठण्ड भी कड़ाके की थी। आपके पत्तों का आसन तो एकदम पतला है, फिर भी आप कहते हैं कि

आप सुख की नींद सोये ?"

"अच्छा कुमार, मेरे प्रश्न का उत्तर दो। मान लो, किसी गृहपति के पुत्र का कक्ष वायुरहित और बन्द हो, उसके पलंग पर चार अंगुल की पोस्तीन बिछी हो, तकिया कालीन का हो तथा ऊपर वितान हो और सेवा के लिए चार भार्याएँ तत्पर हों, तब क्या वह गृहपति पुत्र सुख से सो सकेगा ?"

"हाँ भन्ते ! इतनी सुख-सुविधाएं होने पर भला वह सुख से क्यों न सोएगा ? उसे सुख की नींद ही आएगी।"

"किन्तु कुमार, यदि उस गृहपति-पुत्र को रोग से उत्पन्न होनेवाला शारीरिक या मानसिक कष्ट हो, तो क्या वह सुख से सोएगा ?"

"नहीं भन्ते ! वह सुख से नहीं सो सकेगा।"

"और यदि उस गृहपति पुत्र को द्वेष या मोह से उत्पन्न शारीरिक या मानसिक कष्ट हो, तो क्या वह सुख से सोएगा ?"

"नहीं भन्ते ! तब भी वह सुख से नहीं सोएगा।"

"कुमार, तथागत की राग, द्वेष और मोह से उत्पन्न होनेवाली जलन जड़मूल से नष्ट हो गई है, इसी कारण सुख की नींद आयी थी। वास्तव में नींद को अच्छे आस्तरण की आवश्यकता नहीं होती। तुमने यह तो सुना ही होगा कि सूली के ऊपर भी अच्छी नींद आ

जाती है। सुखद नींद के लिए चित्त का शान्त होना परम आवश्यक है और यदि सुखद आस्तरण हो, तब तो बात ही क्या ? सुखद नींद के लिए वह निश्चय ही सहायक होगा ।"

(४) निज प्रभुमय देखहिं जगत्

एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी रात्रि को कहीं से लौट रहे थे कि सामने से कुछ चोर आते दिखायी दिये। चोरों ने तुलसीदासजी से पूछा! "कौन हो तुम?" उत्तर मिला, "भाई, जो तुम, सो मैं।" "चोरों ने उन्हें भी चोर समझा, बोले, "मालूम होता है नये निकले हो, हमारा साथ दो।"

चोरों ने एक घर में सेंध लगायी और तुलसीदासजी से कहा, "यहीं बाहर खड़े रहो। अगर कोई दिखायी दे, तो हमें खबर कर देना।"

चोर अन्दर गये ही थे कि गोसाईंजी ने अपनी झोली में से शंख निकाला और उसे बजाना चालू किया। चोरों ने आवाज सुना, तो डर गये और बाहर आकर देखा, तो तुलसीदासजी के हाथ में शंख दिखायी दिया। उन्हें खींचकर वे एक ओर ले गये और पूछा. "शंख क्यों बजाया था ?"

"आपने ही तो बताया था कि जब कोई दिखायी दे, तो खबर कर देना। मैंने अपने चारों तरफ देखा, तो मुझे प्रभु रामचन्द्रजी दिखायी दिये। मैंने सोचा कि आप लोगों को उन्होंने चोरी करते देख लिया है और चोरी

करना पाप है, इसलिए वे जरूर दण्ड देंगे, इसलिए आप लोगों को सावधान करना उचित समझा।"

"मगर भगवान् रामचन्द्रजी तुम्हें कहाँ दिखायी दिये," एक चोर ने पूछ ही लिया।

"भगवान् का बास कहाँ नहीं है? वे तो सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं और उनका सब तरफ वास है। मुझे तो इस संसार में वे सब तरफ विराजमान दिखायी दे रहे हैं, तब किस स्थान पर वे दिखायी दिये, कैसे बताऊँ?" तुलसीदासजी ने जवाब दिया।

चोरों ने सुना, तो समझ गये कि यह कोई चोर नहीं महात्मा है। अकस्मात् उनके प्रति श्रद्धा-भाव जागृत हो गया और वे उनके पैरों पर गिर पड़े। उन्होंने फिर चोरी करना छोड़ दिया और वे उनके शिष्य हो गये।

(५) ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग

सन्त लीओ ने सन्त फ्रांसिस के बीमार होने की जब खबर सुनी, तो उनसे मिलने आये। थोड़ी देर लीओ प्रार्थना में लीन हो गये। अचानक उन्हें एक दृश्य दिखायी दिया, वह यह की सामने एक नदी है, जिसे कई मुसाफिर पार करने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु उनकी पीठ पर भारी बोझ होने के कारण नदी पार करने में उन्हें कष्ट हो रहा है। इतने में उन्होंने देखा कि कुछ को तो नदी की वेगवती धारा बहा ले गयी और कुछ गिरते-सम्हलते आगे बढ़ रहे थे, किन्तु

वे भी पीठ के बोझ को सहन न कर गिर पड़े और क्रूर काल के कराल गाल में समा गये। यह दृश्य देख सन्त लीओ का हृदय द्रवित हो गया, किन्तु वह दृश्य पूरा नहीं था। अकस्मात् उन्हें साधुओं का एक और झुण्ड आता दिखायी दिया। वे खाली हाथ थे और उनकी पीठ पर कोई भार नहीं था। वे नदी को सहजता से पार कर गये और पार करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। लीओ यह दृश्य देखने में इतने तल्लीन हो गये थे कि वे यह भूल गये कि वे सन्त फ्रांसिस के पास बैठे हैं। इतने में उन्हें फ्रांसिस के शब्द सुनायी दिये—"भाई लीओ! क्या सोच रहे हो, तुम?"

यह सुनते ही लीओ की तन्द्रा भंग हो गयी और उन्होंने उस दृश्य का वर्णन करके सन्त से प्रश्न किया, "मै यह समझने में असमर्थ हूँ कि जिन बेचारों की पीठ भार से लदी हुई थी, उन्हें तो नदी निगल गयी और जो भार मुक्त थे, उनको जीवनदान मिल गया।"

सन्त फांसिस ने जवाब दिया, "तुम्हारे सोचने की दृष्टि ठीक नहीं है। वास्तव में वह नदी संसाररूपी विशाल नदी थी। जो पापी थे और जिन्होंने प्रभु ईसा की शिक्षा का अनुसरण नहीं किया, उन्हें नदी बहा ले गयी, किन्तु संसार की पार्थिव-अपार्थिव वस्तुओं में जिनकी जरा भी आसक्ति नहीं थी, जो यदृच्छालाभ सन्तुष्ट रहते थे, ऐसे व्यक्तियों को नदी पार करने में कोई बाधा नहीं हुई। वस्तुस्थिति यह है कि वे भी अपनी पीठ

पर भार वहन कर रहे थे, किन्तु यह भार अदृश्य था और वह था—प्रभु के क्रूस का हलका और आनन्दप्रद भार। उनकी गर्दन पर भी अदृश्य भार था और वह था—प्रभु की पवित्र आज्ञा-रूपी जुए का भार। इसी कारण भार से लदे होते हुए भी वे संसार-सरिता को पार करने में सफल हो गये।"

●

आये प्रभो आज...

स्वामी वागीश्वरानन्द
(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(राग–बहार : ताल–झपताल)

आये प्रभो आज आनन्द सब ओर।
छाया नव प्रकाश, तम का हुआ नाश,
चित में जगे आश, बीती निशा घोर ॥ध्रु०॥

सोते जगे भाग, मन का खिला बाग,
अंग अंग अनुराग, होवे हिय विभोर ॥१॥

टूटे सकल बन्ध, भय-ताप-दुख-द्वन्द,
आनन्दघन देख सुखमग्न मन-मोर ॥२॥

आओ महाराज, हिय में बसो आज,
पूरन करो काज हे भक्तचित-चोर ॥३॥

लोकसंग्रह हेतु कर्म

(गीताध्याय ३, श्लोक २०-२५)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जनकादयः (जनक आदि) कर्मणा (कर्म के द्वारा) एव (ही) हि (सचमुच) संसिद्धिम् (सिद्धावस्था को) आस्थिता (प्राप्त हुए हैं) लोकसंग्रहम् (लोकसंग्रह को) एव (ही) संपश्यन् (देखते हुए) अपि (भी) कर्तुम् (करने के) अर्हसि (तुम योग्य हो।

"सच पूछो तो जनक आदि कर्म के द्वारा ही सिद्धावस्था को प्राप्त हुए हैं। लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुम कर्म ही करने के योग्य हो।"

श्रेष्ठः (श्रेष्ठ) यत् यत् (जैसा जैसा) आचरति (आचरण करता है) इतरः (अन्य सामान्य) जनः (जन) तत् तत् (वैसा वैसा) एव (ही) [करते हैं] सः (वह) यत् (जिसे) प्रमाणं (प्रमाणित) कुरुते (करता है) लोकः (लोग) तत् (उसका) अनुवर्तते (अनुसरण करते हैं)।

"श्रेष्ठ व्यक्ति जो कुछ करता है, वही अन्य यानी साधारण जन भी करते हैं। वह जिसे प्रमाणित कर देता है, लोग उसी के अनुसार बर्तन करते हैं।"

पूर्व प्रवचन में हमने देखा था कि अर्जुन को भगवान् कृष्ण अनासक्त होकर कर्म करने का उपदेश देते हैं। पहले तो उन्होंने यज्ञचक्र का वर्णन किया और कहा कि जब हम अपने लिए प्रकृति से लेते हैं, तब विश्व के समुचित संचालन के लिए हमें समाज के लिए भी कुछ करना चाहिए। आदान-प्रदान ही विश्व का नियम है। फिर कहा कि जो आत्माराम और आत्मतृप्त बन गया, उसके लिए यज्ञचक्र में भाग लेने की बाध्यता नहीं है। पर इसके साथ ही उन्होंने अर्जुन से स्पष्ट कह दिया कि अर्जुन, तू अभी आत्माराम् की स्थिति तक नहीं पहुँचा है, इसलिए तुझे कर्तव्य-कर्मों का पालन करना चाहिए। यदि तुझे कर्म से उत्पन्न होनेवाले बन्धन का डर है, तो तू आसक्ति का त्याग कर, क्योंकि आसक्ति से ही बन्धन लगता है, अनासक्त होकर कर्म करने से मनुष्य उस परमतत्त्व को पा लेता है।

अब प्रश्न उठता है कि अनासक्त होकर कर्म कैसे किया जाय ? पहले हम विवेचन कर चुके हैं कि आसक्ति दो प्रकार की होती है—कर्मासक्ति और फलासक्ति। जब तक हममें कर्तापन है, तब तक कर्मासक्ति बनी रहेगी और भोक्तापन के रहते फलासक्ति हमसे दूर नहीं होगी। यदि मनुष्य अपने को भगवान् का यंत्र माने, तो इससे कर्तापन का भाव दूर होगा ही, साथ ही भोक्तापन भी नष्ट होगा। हम जब ईश्वर का यंत्र बनकर काम करने की बुद्धि अपने भीतर पैदा करते हैं, तो फिर कर्म ऊपर से सांसारिक

दिखते हुए भी सांसारिक नहीं रह जाते। तब हमारा 'स्व' केवल परिवार और आत्मीय-स्वजनों तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु वह बृहत्तर समाज को अपनी परिधि में समेटने लगता है। यह तर्क के द्वारा समझ में आने की बात नहीं है। कई लोग मुझसे पूछते हैं कि यदि काम को हम अपना न मानें, तो काम करने की प्रेरणा आएगी कैसे? इस प्रश्न का उत्तर तर्क के आधार पर देना कठिन है, क्योंकि साधना के द्वारा ही यह बात धीरे-धीरे समझ में आने लगती है कि अपने को ईश्वर का यंत्र मानकर कर्म करने से वह कैसे अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न होता है और उसका बन्धन भी हम पर लग नहीं पाता। जब कर्म को करने से हमारा मन विक्षिप्त हो जाय, तो वह बन्धन है और जब कर्म को करने से हमें ऐसा लगे कि हमने ईश्वर की पूजा ही की है, तो वह बन्धननाशक है। यह सूक्ष्म अनुभव साधना के रास्ते तनिक आगे बढ़ने पर ही समझ में आता है। युक्ति-तर्क के द्वारा न तो इस अनुभूति को कोई समझा सकता है, न कोई समझ सकता है।

जब भगवान् ने अर्जुन से कहा कि अनासक्त होकर कर्म करो, तो उसे यही सन्देह हुआ होगा कि क्या अनासक्त होकर कर्म किया जा सकता है? और जब भगवान् ने आगे कहा कि अनासक्त होकर कर्म करने से परमतत्व की उपलब्धि होती है, तो यह संशय भी अर्जुन के मन में उठा होगा कि कर्म से क्या मुक्ति मिल सकती है?

उसके इन्हीं दोनों संशयों का निरसन करने के लिए भगवान् राजा जनक आदि का उदाहरण देते हैं। देखो, राजा जनक थे, वे अनासक्त होकर कर्म करते थे और कर्म से ही उन्हें सिद्धि मिली। 'कर्मणा एव' कहकर भगवान् कर्म की करणीयता पर बल दे रहे हैं—'कर्म के द्वारा ही'। 'कर्मणा' का एक अर्थ 'सह' के रूप में लिया गया है, अर्थात् 'कर्म के साथ ही जनक आदि संसिद्धि यानी मोक्ष तक पहुँचे'। दोनों ही अर्थों में कर्म की अनिवार्यता प्रदर्शित की गयी है। 'संसिद्धि' का अर्थ व्याख्याकारों ने अलग अलग किया है। किसी ने उसका अर्थ 'ज्ञाननिष्ठा' लिया है, तो किसी ने 'मोक्ष'। ज्ञान-योगी यदि पहले अर्थ का चुनाव करते हैं, तो कर्मयोगी दूसरे का। यहाँ पर विवेच्य यह नहीं कि कौनसा अर्थ अधिक सही है, विवेच्य तो यह है कि भगवान् किस प्रकार अर्जुन के लिए कर्म की बाध्यता बताते हुए जनकादि का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। राजा जनक अनासक्त होकर कर्म करते थे। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार जब उन्हें सूचना दी गयी कि राजप्रासाद में आग लग गयी है, तब उनके मुख से शब्द निकल पड़े थे—'मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन'—अर्थात्, सम्पूर्ण मिथिला भी जल जाय, तो मेरा क्या जला? वे नितान्त ममत्वरहित थे। ऐसे ज्ञानी जनक भी जब कर्म के द्वारा ही ज्ञान की इस सिद्धावस्था तक पहुँचे, तब अर्जुन, तू ही क्यों कर्म

छोड़ना चाहता है?—यह भगवान् का तात्पर्य है।

बीसवें श्लोक के उत्तरार्ध से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है। कर्म करने का एक दूसरा कारण प्रदर्शित किया जाता है। इससे पूर्व भगवान् कह चुके हैं कि जगत् की रक्षा के लिए यज्ञचक्र आवश्यक है, इसलिए कर्म करना चाहिए। ऐसा यज्ञार्थ कर्म मनुष्य के लिए बन्धनकारक नहीं होता। अब यहाँ पर कहते हैं कि लोक-संग्रह को देखते हुए भी मनुष्य को कर्म करना चाहिए। ऐसा कर्म भी उसके लिए बन्धन का हेतु नहीं बनता। 'लोक संग्रहम् एव अपि' में जो 'अपि' (भी) शब्द है, वह प्रकरण का विभाजन सूचित करता है। 'अपि' शब्द दो अर्थों को ध्वनित करता है। एक तो यज्ञचक्र के सन्दर्भ में, अर्थात् जैसे यज्ञार्थ कर्म करना चाहिए, वैसे ही लोकसंग्रह के लिए भी कर्म करना चाहिए। दूसरा ज्ञान के सन्दर्भ में। भले ही व्यक्ति ज्ञान-लाभ करके आत्माराम बन गया है, भले ही उसे अपने लिए कर्म करने की कोई बाध्यता नहीं है तथापि लोक-संग्रह के लिए उसे अवश्य कर्म करना चाहिए।

लोकसंग्रह का अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार से किया है। किसी ने लोगों की कुमार्ग में प्रवृत्ति के रोकने को लोकसंग्रह माना है, तो किसी ने उसका अर्थ लोक-रक्षण किया है। अन्य किसी ने लोगों को स्वधर्म से प्रेरित करते रहने को लोकसंग्रह माना है। वैसे 'संग्रह' का अर्थ होता है इकट्ठा करना। तो लोकसंग्रह का अर्थ

हुआ— लोगों को इकट्ठा करना, अपने साथ सबको ले चलना। ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह लोगों के सामने उदाहरण रखे, जिससे लोग सीख सकें। लोक-रक्षण मात्र उपदेश से नहीं होता, उपदेश के अनुरूप आचरण भी होना चाहिए। लोग आचरण को देखकर अधिक सीखते हैं। यदि मैं त्याग का मात्र उपदेश देता रहूँ और मेरे जीवन में भोग दिखायी दे, तो ऐसे उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए यहाँ पर लोकसंग्रह पर इतना बल दिया गया है। ज्ञानी पुरुष तो अपने ज्ञान के बल पर आत्माराम और आत्मतृप्त होकर कर्म से अपने को समेट ले सकता है, पर उसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा यह सोचने की बात है। लोग अनुकरणशील होते हैं। जिनके प्रति श्रद्धा होती है, उनका अनुकरण करने का प्रयास किया जाता है। अतएव ज्ञानी यदि कर्महीन हो जाय, तो लोग कर्महीन होने की चेष्टा करेंगे। ज्ञानी तो ज्ञान के कारण कर्म नहीं कर पाता, पर संसारी लोग उसकी देखादेखी आलस्यवश कर्मत्याग करेंगे, जो उनके और संसार के लिए घातक होगा। आगे के २१वें श्लोक में यही तर्क दिया गया है। समाज में श्रेष्ठ लोग जिस प्रकार का आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। श्रेष्ठ लोग जिसे प्रमाणित कर देते हैं, लोग उसी के अनुरूप चलते हैं। इसलिए श्रेष्ठिजनों को बड़ी सावधानी के साथ वर्तन करना चाहिए।

महात्मा गाँधी जब टहलने के लिए जाते, तो दोनों

ओर एक एक युवती के कन्धे पर हाथ रखकर चलते। आश्रम के वरिष्ठ लोगों ने आपत्ति की, कहा—बापू, यह ठीक नहीं है, इससे आश्रम में अव्यवस्था फैलेगी। बापू बोले—सो क्यों ? मैं तो इतना बूढ़ा आदमी ठहरा। मेरे इस कृत्य से लोग अव्यवस्था कैसे फैलाएँगे ? उन लोगों ने कहा—नहीं, बापू ! आपकी नीयत पर हमें तनिक भी सन्देह नहीं है, हमें मालूम है कि आपका मन पवित्र और निर्विकार है, पर आश्रम के लोग इसे उदाहरण बना लेंगे। अतएव लोगों के समक्ष उदाहरण रखने की दृष्टि से आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।

यह लोकसंग्रह है। मैं ज्ञानी हूँ, मैं एक कर्म करता हूँ, जो शायद समाज-अनुमोदित नहीं है। मैं कहता हूँ कि यह कर्म मेरे भीतर किसी प्रकार की वासना को जन्म नहीं देता। मेरी बात सही हो सकती है, पर लोक-मर्यादा की रक्षा करने के लिए मुझे वह कर्म नहीं करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द विश्व प्रसिद्ध बनकर विदेशों से भारत लौटे थे। वे अमरनाथ की यात्रा पर गये। साथ में उनकी भगिनी निवेदिता आदि विदेशी शिष्याएँ थीं। अमरनाथजी के रास्ते अन्य संन्यासियों ने विनम्र भाव से स्वामीजी से अनुरोध किया कि उनका स्वयं का तम्बू साधुओं के साथ रहेगा और उनकी शिष्याओं का तम्बू कुछ दूर अन्य महिलाओं के साथ। स्वामीजी ने सहर्ष यह मान्य किया। संन्यासियों ने स्वामीजी से यही कहा कि आप तो सर्वसमर्थ हैं, आपके

लिए नर और नारी का भेद तिरोहित हो गया है, तथापि मर्यादा की रक्षा के लिए ऐसा करना उचित होगा।

जब मैं वसिष्ठगुफा में था, स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी के दर्शन करने उस अंचल के एक प्रसिद्ध संन्यासी पधारे। वे महिलाओं से घिरे हुए थे और पुरुष-भक्त पीछे आ रहे थे। पुरुषोत्तमानन्दजी ने बड़े सुन्दर ढंग से स्वामीजी को समझाया—देखिए, आप संन्यासी हैं। समाज आपसे प्रेरणा लेता है और मर्यादा सीखता है। महिला-भक्तों पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पर आप जहाँ कहीं रहें, जहाँ कहीं जायें, पुरुष-भक्तों से घिरे रहें और महिलाएँ एक दूरी बनाकर रहें। यह लोकसंग्रह की शिक्षा है, समाज में मर्यादा की स्थापना है। वास्तव में आज हमारा देश जो पतित हो गया है, वह लोकसंग्रह की भावना के नष्ट हो जाने के कारण। सत्ता में व्यक्ति आ तो जाता है, पद पर राजनैतिक दाँव-पेंच के कारण पहुँच तो जाता है, पर पद की मर्यादा की रक्षा करना उसने सीखा नहीं, इसलिए वह अपने पद को भी कलंकित करता है, साथ ही समाज में अपने कदाचार का विष भी बिखेर देता है। श्रेष्ठ स्थान पर बैठ जाने से ही मनुष्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता, बल्कि जिसमें वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान है और आचरण भी, वही श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से जब हम श्रेष्ठ स्थानों पर बैठे व्यक्तियों को देखते हैं, तो कितनी निराशा होती है ? सर्वत्र हम त्याग और चरित्रगठन की बात सुनते हैं, पर केवल बात ही

सुनते हैं, त्याग और चरित्र कहीं दिखायी नहीं देता। इसलिए नीचे के व्यक्ति भी अपने शीर्षस्थ व्यक्ति से आनेवाले विष से विषाक्त हो जाते हैं। आज समाज और देश की यही कहानी है। ऐसे लोग कहाँ हैं, जिन्हें समाज में मर्यादा स्थापित करने की चिन्ता हो, जो स्वयं अपने आचरण का आदर्श लोगों के समक्ष रखकर लोकसंग्रह की भावना से युक्त हों ? जो कुछ इने-गिने ऐसे लोग हैं, उन्हीं के पुण्य के बल पर आज समाज टिका हुआ है, कुछ मर्यादा बनी हुई है। आज पिता स्वयं तो सिगरेट पीता है, पर चाहता है कि लड़का न पिये; स्वयं तो थियेटर सिनेमा जाता है, पर चाहता है कि लड़का न जाए। यह क्या कभी सम्भव है ? पुत्र तो पिता एवं अन्य गुरुजनों का ही अनुकरण करता है। बच्चों को सिखाने के लिए हमें उनके समान बन जाना पड़ता है। जब कोई पूज्यजन आते हैं, तो हम स्वयं उन्हें प्रणाम करके अपने बच्चे को भी प्रणाम करना सिखाते हैं, कहते हैं—मुन्ना, स्वामीजी को प्रणाम करो, ऐसे सिर टेककर प्रणाम करो।

हमारे यहाँ एक नये जिलाधीश आये। वे समय से आधा घण्टा पूर्व ही अपने कार्यालय में आकर बैठने लगे। बस क्या था, दूसरे अन्य अधिकारी भी अपने अपने कार्यालय में समय पर उपस्थित रहने लगे। जो पहले कभी समय पर दफ्तर नहीं पहुँचते थे, वे बिना किसी चूक के अब समय पर वहाँ आ जाते थे। यह क्यों हुआ ?

इसलिए कि उनमें श्रेष्ठ अधिकारी यानी जिलाधीश ने समय पर आना शुरू किया। यही तर्क सर्वत्र लागू होता है। ऊपर के व्यक्ति—समाज में श्रेष्ठ समझे जानेवाले व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, नीचे के लोग उनका अनुकरण करते हैं।

तो, यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से यही कहते हैं कि अर्जुन, भले ही तुझे अपने लिए कर्म करना आवश्यक न प्रतीत होता हो, तथापि तू लोकसंग्रह के लिए कर्म कर। लोग तुझसे सीखें कि धर्म की रक्षा के लिए युद्ध कैसे किया जाता है। भले ही सम्बन्धी और मित्र-जन शत्रु का पक्ष लेकर युद्धभूमि पर खड़े हैं, तथापि विश्व को दिखा दे कि अधर्म का साथ देनेवाले लोग अधर्म के समान ही दण्डनीय हैं।

यह कहकर भगवान् स्वयं अपने को दिखाकर कहते हैं—तू उदाहरण खोजने और कहाँ जायगा, देख, मैं तेरे सामने खड़ा हूँ। मुझे इस जगत् में कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं, तो भी मैं अनवरत कर्म में लगा हुआ हूँ। क्यों? लोक-संग्रह के लिए।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकटस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

पार्थ (हे पार्थ) त्रिषु (तीनों) लोकेषु (लोकों में) मे (मेरा) किंचन (कुछ भी) कर्तव्यं (कर्तव्य) न (नहीं) अस्ति (है) अनावाप्तम् (अप्राप्त) अवाप्तव्यं (प्राप्तव्य) न (नहीं है) च (फिर भी) कर्मणि (कर्म में) एव (ही) वर्ते (लगा रहता हूँ)।

"हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि न तो मुझे कुछ अप्राप्त है और न कुछ प्राप्त ही करना है। फिर भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूँ।"

हि (क्योंकि) पार्थ (हे पार्थ) यदि (यदि) अहं (मैं) जातु (कदाचित्) अतन्द्रित: (निद्रा या आलस्य छोड़कर) कर्मणि (कर्म में) न (नहीं) वर्तेयं (लगा रहूँ) मनुष्या: (मनुष्य) मम (मेरे) वर्त्म (मार्ग का) सर्वश: (सब प्रकार से) अनुवर्तन्ते (अनुसरण करेंगे)।

"क्योंकि, हे पार्थ, यदि मैं कदाचित् निद्रा-आलस्य छोड़कर कर्म में न लगा रहूँ, तब तो मनष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करेंगे।"

चेत् (यदि) अहं (मैं) कर्म (कर्म) न (नहीं) कुर्यां (करूँ) इमे (ये) लोका: (लोक) उत्सीदेयु: (नष्ट-भ्रष्ट हो जायें) संकरस्य (वर्णसंकर का) कर्ता (कर्ता) स्याम् (होऊँ) च (और) इमा: प्रजा: (इन प्रजाजनों के) उपहन्याम् (ध्वंस का कारण बनूँ)।

"यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सारे लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ, मैं वर्णसंकर का कर्ता होऊँ तथा इन प्रजाओं के ध्वंस का कारण बनूँ।"

सम्भवत: जनक का उदाहरण सुनकर अर्जुन को लगे कि मालूम नहीं, राजा जनक कैसे थे, कहीं कवियों ने बढ़ा-चढ़ाकर तो उनका वर्णन नहीं कर दिया, इसलिए भगवान् स्वयं अपना उदाहरण रख देते हैं। भगवान् के

लिए तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है। यहाँ पर हम भगवान् के वचन को दो प्रकार से देख सकते हैं—एक तो यह मानकर कि वे श्रीकृष्ण हैं और अभी अर्जुन का सारथ्य कर रहे हैं, और दूसरे यह मानकर कि वे साक्षात् ईश्वर हैं। यदि हम श्रीकृष्ण को मनुष्य-दृष्टि से देखें, तो उक्त श्लोकों का तात्पर्य यह होगा कि वे तो आप्तकाम है, तीनों लोकों में उनके लिए किसी कर्म की कर्तव्यता नहीं हैं। कर्तव्यता तब होती है, जब मनुष्य को कुछ अप्राप्त होता है अथवा कुछ पाना होता है। अप्राप्त को पाने के लिए व्यक्ति कर्म करता है अथवा जो प्राप्तव्य है, उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है। पर श्रीकृष्ण के लिए ऐसा कुछ न था, जो अप्राप्त हो अथवा जिसको पाने की उनमें इच्छा हो। कामना ही तो मनुष्य को कर्म में प्रेरित करती है। पर जो अकाम हो, उसके लिए भला क्या कर्म ? ऐसे अकाम होते हुए भी श्रीकृष्ण किस प्रकार सतत कर्म करते हैं यह उनके जीवन से स्पष्ट है। दुष्ट राजाओं का संहार करते हैं, युधिष्ठिर के दूत बनकर दुर्योधन के पास जाते हैं, अर्जुन का सारथ्य करते हैं। उनका अपना कहीं स्वार्थ नहीं, फिर भी निरन्तर कर्म में रत हैं। वे यदि कर्म करना छोड़ दें, तो दूसरे लोग भी देखादेखी क्रियाशीलता से विमुख हो जायें।

जैसे श्रीरामकृष्णदेव थे। वे तो सभी अर्थों में सिद्ध हो चुके थे, उन्हें नियमित रूप से साधना करने की बाद में कोई आवश्यकता नहीं थी। फिर भी उनके पास

आनेवाले युवक-भक्तों के समक्ष आदर्श रखने के लिए वे ब्राह्ममुहूर्त से पूर्व ही बिछौने का त्याग कर उठ जाते और स्वयं साधना में लगकर उन सबको भी साधना में लगाते। श्रीरामकृष्ण को स्वयं इस साधना का कोई प्रयोजन न था, पर दूसरों में साधना की प्रेरणा जगाने के लिए वे ऐसा करते थे। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण को 'कर्म कठोर' कहते हैं। यही तर्क श्रीकृष्ण पर भी लागू होता है। बाल्यावस्था से लेकर देहत्याग तक उनका जीवन कर्म का एक अटूट प्रवाह है। उनका जीवन दूसरों के लिए इसका आदर्श है कि अपना कहीं कोई स्वार्थ न होते हुए भी मनुष्य कैसे सतत कर्मशील बना रह सकता है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि अर्जुन, यदि मैं कर्म करना बन्द कर दूँ, तो लोग यह तो नहीं समझ पाएँगे कि मैं कृतकृत्य और आप्तकाम हूँ इसलिए मुझे कर्म करने की आवश्यकता नहीं; वे तो मेरा अन्धा, नुकरण करेंगे और आलस्य एवं प्रमादी हो अपने को नष्ट कर डालेंगे।

यदि हम श्रीकृष्ण की ओर ईश्वर-दृष्टि से देखें, तो उक्त श्लोकों की यों व्याख्या होगी कि साक्षात् ईश्वर, जिन्हें कुछ भी अप्राप्त या प्राप्तव्य नहीं है, किस प्रकार जीवों के कल्याणार्थ सतत कर्म में लगे हुए हैं। उन्हीं की प्रेरणा से सूर्य-चन्द्र उगते और अस्त होते हैं, वायु बहती है, वरुण वर्षा करता है और अग्नि ताप प्रदान करती है। यदि ईश्वर का यह कर्म बन्द हो जाय, तो सब कुछ

नष्ट हो जायगा। ईश्वर की प्रेरणा ही तो जीवों में कर्म की स्फुरणा जगाती है। यदि वही प्रेरणा बन्द हो जाय, तो सब कुछ अस्तव्यस्त हो जायगा, सारा संसार निष्क्रिय हो जायगा।

२३ वें श्लोक में बताया गया कि ईश्वर अनलस होकर कर्म करते हैं। तभी तो ग्रह-नक्षत्र सभी सतत कर्म में लगे हैं। किसी ने क्या कभी सूर्य को छुट्टी लेते देखा है? पवन कभी vacation (छुट्टी) पर नहीं गया। हमें इनसे सीख लेनी चाहिए। प्रकृति हमें सतत कर्म का पाठ पढ़ाती है। प्रकृति यदि आलस्य से युक्त हो कर्म करना छोड़ दे, तब तो एक महान् संकट उपस्थित हो जायगा। सभी उसी के अनुरूप आलसी और अकर्मण्य हो जाएँगे। यही 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' का अर्थ है। ईश्वर के पीछे पीछे प्रकृति चलती है और प्रकृति के पीछे पीछे मनुष्य।

२४ वें श्लोक में बताया कि यदि ईश्वर कर्म करना छोड़ दें, तो समाज के सभी वर्गों के श्रेष्ठजन कर्म करना छोड़ देंगे। अन्य लोग भी उनकी देखादेखी करेंगे, इससे क्रियाशीलता का अभाव हो जायगा। फलस्वरूप, ये सारे लोक, जो कर्म पर खड़े हैं, नष्ट हो जाएँगे। कर्मों का मापदण्ड समाप्त हो जाने से समाज में वर्णसंकरता फैल जाएगी और मानवता नष्ट हो जाएगी। मानवता के नष्ट हो जाने से प्रजा का ही ध्वंस हो जाएगा। और इस सबका कारण मैं ईश्वर ही बनूँगा। इसीलिए अर्जुन, मैं तन्द्रारहित हो सतत कर्म करता हूँ।

इस प्रकार अर्जुन के समक्ष अपना उदाहरण प्रस्तुत कर भगवान् कहते हैं कि विद्वान् को मेरी ओर देखना चाहिए और लोकसंग्रह हेतु कर्म करना चाहिए। अब अगले श्लोक में बताते हैं कि ज्ञानी किस प्रकार कर्म करे।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

भारत (हे अर्जुन) कर्मणि (कर्म में) सक्ताः (आसक्त होकर) अविद्वांसः (अज्ञानी लोग) यथा (जिस तरह) कुर्वन्ति (कर्म करते हैं) विद्वान् (ज्ञानी को) तथा (उसी तरह) असक्तः [सन्] (अनासक्त हो) लोकसंग्रहं (लोकसंग्रह) चिकीर्षुः (करने की इच्छा से) कुर्यात् (कर्म करना चाहिए)।

"हे अर्जुन ! कर्म में आसक्त हो अज्ञानी जन जिस तीव्रता से कर्म करते हैं, ज्ञानी को अनासक्त रहकर लोकसंग्रह अर्थात् लोगों का हित करने की इच्छा से उसी तीव्रता के साथ कर्म करना चाहिए।"

ज्ञानी का कर्म भी उसी प्रकार तीव्र हो, जैसे अज्ञानी का होता है। दोनों के कर्मों में भेद यह है कि अज्ञानी आसक्त होकर कर्म करता है, जबकि ज्ञानी अनासक्त होकर। अज्ञानी के कर्म के पीछे उसकी वासना-पूर्ति की प्रेरणा होती है, जबकि ज्ञानी के कर्म के पीछे लोक-कल्याण की भावना रहती है। 'योग-वासिष्ठ' में महर्षि वसिष्ठ ने श्री राम को ऐसा ही उपदेश दिया है—

बहिःकृत्रिम संरम्भोऽस्यन्तः संरम्भवर्जितः।
कर्ताबहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव ॥

--'हे राघव ! इस प्रकार कर्म करो कि बाहर से तो लोग ऐसा समझें कि इनका कर्म में बड़ा आवेश है, किन्तु भीतर मन में बिलकुल आवेश न हो। इस प्रकार बाह्य लोगों की दृष्टि में तो तुम कर्ता समझे जाओ, पर भीतर मन-बुद्धि से अकर्ता ही बने रहो। इस प्रकार लोक में रहते हुए विहार करो अर्थात् सब प्रकार के कर्माचरण करो।'

अज्ञानी व्यक्ति अपनी चिन्ता से प्रेरित हो कर्म करता है, जबकि ज्ञानी सबकी चिन्ता करता है। अपनी चिन्ता में आसक्ति है, लेप है, इसीलिए कर्म अज्ञानी से चिपक जाता है। ऐसा कर्म उद्वेग उत्पन्न करता है। पर जहाँ पर अपनी चिन्ता नहीं है, वहाँ पर लेप भी नहीं। दूसरों के हित का चिन्तन मन में आसक्ति नहीं उत्पन्न करता। पर ध्यान रहे, जिन दूसरों के हित का चिन्तन किया जाता है, उनसे किसी प्रकार का ममत्व न हो, अन्यथा वह भी स्वार्थ-चिन्तन के ही दायरे में आ जायगा। तात्पर्य यह है कि जहाँ स्वार्थ-चिन्तन का सर्वथा त्याग होकर केवल परार्थ-चिन्तन और परार्थ-कर्म है, वहाँ कर्म बन्धनकारक नहीं रह जाता और ऐसा कर्म लोगों के लिए आदर्शस्वरूप होता है। इसीलिए ज्ञानी से तीव्र कर्म करने की अपेक्षा की गयी है। कर्म छोड़ने का रास्ता अनुकरण करने में बड़ा सरल है और कर्म करने का रास्ता कठिन। इसीलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन के मिस हम सबको बारम्बार यह उपदेश देते हैं कि

यदि तुम ज्ञान की उच्चावस्था को प्राप्त कर भी लो तो भी लोक-कल्याण के लिए तुम अनवरत कर्म करते रहो।

विवेचन का सार यह है कि यदि हम ज्ञान की चरम अवस्था तक नहीं पहुँचे हैं, तो हमें कर्म करते हुए ही उस अवस्था तक पहुंचने का प्रयास करना चाहिए और यदि हम उस स्थिति को प्राप्त हो गये हैं, तो हमें लोक-हित के लिए सतत कर्म में लगे रहना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द के लिए अपनी मुक्ति की चेष्टा भी स्वार्थ-परता थी। उनकी दृष्टि में दूसरों की मुक्ति के लिए प्रयत्न करनेवाला मनुष्य उस व्यक्ति से पहले मुक्ति प्राप्त कर लेगा, जो स्वयं की मुक्ति की चिन्ता से अपने ही छोटे से घेरे में सिमट जाता है और दूसरों के लिए कुछ नहीं सोचता। वे कहा करते थे—"स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही सबसे बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह निश्चय ही स्वार्थी है। निःस्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से किसी को लाभ हो सकता है, तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।' यह निःस्वार्थता ही धर्म की परीक्षा है। जिसमें जितनी अधिक निःस्वार्थता है, वह उतना ही आध्यात्मिक है।" यही ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर है।

•

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :-

तारकनाथ घोषाल

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेख-माला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और मिशन, बेलुड़मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अंगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके अगस्त १९७५ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।—स०)

समाधि के सम्बन्ध में जानने की उत्कण्ठा लेकर युवक तारकनाथ दक्षिणेश्वर के परमहंस के दर्शन के लिए कलकत्ता के मधुरे लेन में उनके भक्त रामचन्द्र दत्त के यहाँ गया था। पहली मंजिल के बैठकखाने के दरवाजे के पास खड़े दर्शनार्थियों की भीड़ में से किसी प्रकार रास्ता बना आगे बढ़ने पर तारक ने देखा कि सबके आकर्षण के केन्द्र-बिन्दु एक क्षीणकाय हल्की दाढ़ी-मूछ वाले व्यक्ति हैं, जो चित्रवत् स्थिर खड़े हैं। वे जिस अलौकिक आनन्द का उपभोग कर रहे थे, उनके मुखमण्डल की प्रदीप्त प्रशान्ति उसका आभास दे रही थी। वे अपने आसपास के वातावरण से बेखबर लगते थे। कुछ समय उपरान्त उन्होंने मन्द स्वर में पूछा, "मैं कहाँ हूँ ?" किसी ने तत्काल उत्तर दिया, "रामबाबू के यहाँ।" "अरे, हाँ' उन्होंने याद करते हुए कहा। फिर

वे समाधि के तत्त्वों को समझाने लगे। समाधि-विज्ञान के इस अद्‌भुत उद्‌घाटन से, स्वयं की उत्कण्ठा का उत्तर पा, तारक को लगा कि यहाँ एक व्यक्ति है, जिसने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। इस आकर्षण ने उस पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि उसने उसी हफ्ते फिर से ठाकुर के दर्शन करने का निश्चय किया।[1]

तारक के पिता रामकनाई घोषाल बारासात, २४ परगना के रहनेवाले थे। वे स्वयं एक पहुँचे हुए साधक थे। उन्होंने एक बार श्रीरामकृष्ण को कठोर आध्यात्मिक साधना तथा ईश्वर-दर्शन-लाभ की प्रबल इच्छा के फलस्वरूप उत्पन्न तीव्र गात्र-दाह के निवारण का उपाय बताया था। रानी रासमणि के पारिवारिक कानूनी सलाहकार होने के कारण वे १८५० से १८६० के बीच कई बार दक्षिणेश्वर गये थे। शैशवावस्था के बाद भी बचे रह पानेवाले उनके एकमात्र पुत्र तारकनाथ का जन्म सम्भवत: १८५५-५६ के बीच अग्रहायण (नवम्बर-दिसम्बर) में हुआ था। पर स्वभावत: इन विषयों में उदासीन होने के कारण वे शीघ्र ही तारीख आदि भूल गये थे,[2] और साधु बनने

---

१. तुलना करें स्वामी अपूर्वानन्द कृत 'महापुरुष शिवानन्द' (बंगला), उद्बोधन कार्यालय, बागबाजार, कलकत्ता, बंगाब्द १३५६), पृ. २३। इसके बाद वाली तथा दक्षिणेश्वर में प्रथम भेंट का वर्णन भी इसी पुस्तक पर आधारित है, पृ. २४-६।

२. अपूर्वानन्द : वही, पृ. ९ में सन् १८५५ उल्लिखित है;—

के बाद तो अपनी जन्म-कुण्डली को भी उन्होंने गंगा में बहा दिया था। बचपन से ही आध्यात्मिक जीवन के निश्चित आसार उनमें दिखायी पड़ने लगे थे। नौ साल की उम्र में उन्होंने अपनी माता वामासुन्दरी को खो दिया। (इसके बाद पिता ने दूसरा विवाह किया था)। कुछ समय बाद ही बड़ी बहन चण्डी दो बच्चों को छोड़कर स्वर्ग सिधार गयी, और दूसरी बहन क्षीरोद ने विधवा होने के बाद पित्रालय में ही आश्रय लिया। इन शोक-सन्तापों ने तारकनाथ के अन्दर संसार के आकर्षणों को कम कर दिया। पढ़ाई के प्रति उनका कभी विशेष लगाव न रहा। एण्ट्रेंस (कॉलेज के पूर्व) की कक्षा में रहते समय वे तीर्थाटन के लिए निकल पड़े थे। परन्तु इस बीच पिता की आय कम हो जाने से तारकनाथ ने रेलवे में नौकरी कर ली और कुछ साल गाजियाबाद तथा मुगलसराय में बिताये। पर ईश्वर के प्रति उनका लगाव बढ़ता ही रहा और जब भी उन्हें समय मिलता, वह चिन्तन-मनन के रूप में प्रकट होता रहता। इन्हीं

परन्तु उसके बाद की और अधिक प्रामाणिक पुस्तकों में (स्वामी विविदिषानन्द कृत 'A man of God' (श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९६८] पृ० ५, एवं The Apostles of Ramakrishna [स्वामी गम्भीरानन्द द्वारा सम्पादित, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथौरागढ़, उ० प्र० द्वारा १९७२ में प्रकाशित] पृष्ठ २००) में से किसी निश्चित वर्ष का पता नहीं चलता। इस दूसरी पुस्तक में लिखा है—'ऐसा निष्कर्ष निकलता है' कि वर्ष १८५४ रहा होगा।

दिनों सहकर्मी प्रसन्न ने पहली बार उन्हें श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में बतलाया, जिनके सम्बन्ध में यह ख्याति फैल गयी थी कि उन्हें समाधि का अनुभव प्राप्त है।

इसी बीच पिता ने तारकनाथ पर नित्यकली चट्टोपाध्याय से विवाह करने के लिए जोर डाला, क्योंकि बदले में नित्यकली के भाई से तारकनाथ की बहन नीरोद का विवाह करना था। परिस्थितियों से बाध्य हो और पारिवारिक जिम्मेदारी का अनुभव करते हुए उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा, परन्तु सांसारिक जीवन के प्रति उनके भीतर कोई आकर्षण नहीं था। वे अपने भीतर की गहराइयों में और अधिक डूब गये एवं ध्यान तथा प्रार्थना में अधिक समय बिताने लगे।[3] इसके कुछ ही समय बाद वे कलकत्ता आ गये और मेकिनॉन मेकेन्जी एण्ड कं० में क्लर्क बन गये। ब्राह्म-समाज का प्रभाव उन पर पड़ने लगा था, पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह हलका ही था। यद्यपि वे ब्राह्म-समाज के उपदेशों से पूरी तरह सन्तुष्ट न थे और भले ही ब्राह्म-समाज के नेताओं से श्रीरामकृष्ण

३. तारक (उस समय स्वामी शिवानन्द) ने १९३२ में लिखा था—"मुझे अपनी इच्छा के विपरीत विवाह करना पड़ा और वह मेरी परीक्षा की अत्यन्त विकट घड़ी थी। जैसे जैसे मैं रात पर रात भगवान् के सामने रोते रोते प्रार्थना करता कि मुझे माया के बन्धन में न बाँधो, वैसे वैसे मेरी संसार-त्याग करने की इच्छा प्रबलतर होती गयी।" (स्वामी विविदिषानन्द की उसी पुस्तक के पृ० २६२ में उद्धृत)

के सम्बन्ध में उन्हें अधिकाधिक जानकारी प्राप्त हो रही थी फिर भी उन्हें श्रीरामकृष्ण से मिलने का तब तक मौका नहीं लगा, जब तक वे सिमला में रहने नहीं चले आये। यहीं रामचन्द्र दत्त रहते थे।

तारकनाथ के आन्तरिक जीवन की एक झाँकी पाने के लिए उनके परवर्ती जीवन में स्वामी शिवानन्द के रूप में १९३२ में लिखे एक पत्र को हम देख सकते हैं—

"छुटपन से मुझमें भगवान् के सम्बन्ध में जानने और उनके दर्शन पाने की उत्कट अभिलाषा थी। उम्र के साथ वह बलवती होती गयी। इससे प्रेरित हो मैं ब्राह्म-समाज में जाता तथा उन सन्त-महात्माओं के दर्शन करने जाता, जिनसे मुझे मार्ग-दर्शन प्राप्त होने की आशा बँधती। उनके बतलाये उपदेशों का मैं पालन भी करता। बचपन से ही सांसारिक जीवन के प्रति मेरा कोई लगाव न था।

"...घर की बिगड़ती आर्थिक परिस्थितियों के कारण मुझे जल्दी ही पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। मैं अकेला लड़का होने से और दो आश्रित बहनों का दायित्व परिवार पर होने के कारण कलकत्ता आकर मुझे नौकरी खोजनी पड़ी। इससे मेरा दिल डूब गया था। मैं अकसर भगवान् के सामने रोता और प्रार्थना करता कि इन बन्धनों से मुक्त करो।"[४]

---

४. विविदिषानन्द : वही, पृ. २६१।

फिर १९२२ में कुछ भक्तों से चर्चा करते हुए उन्होंने बतलाया था—

"किशोरावस्था से ही में साधना किया करता था। मैं उन दिनों ब्राह्म-समाज से जुड़ा हुआ था और मैंने ठाकुर के सम्बन्ध में केशवबाबू की पत्रिका 'धर्मतत्त्व' में पढ़ा था। में दक्षिणेश्वर की ठीक ठीक स्थिति और वहाँ पहुँचने का मार्ग नहीं जानता था। बाद में मुझे रामबाबू के एक रिश्तेदार ने बतलाया था कि वह बालीखाल के एकदम सामने है। ...बहुत समय से मैं समाधि के सम्बन्ध में जानने के लिए उत्सुक था। मैं ध्यान किया करता और कई बार ऐसा अनुभव होता, जो मुझे लगता समाधि के करीब है। परन्तु मैं ठीक ठीक जानना चाहता था कि वास्तव में समाधि है कैसी। मैंने कई लोगों से पूछा पर कोई मुझे समझा नहीं सका। सिर्फ एक व्यक्ति ने कहा, 'इस कलयुग में कोई समाधि-लाभ नहीं कर सकता। मैंने सिर्फ एक आदमी ऐसा देखा है, जिसने किया है—और वे हैं दक्षिणेश्वर के श्रीराम-कृष्ण परमहंस।'"[५]

ऐसे ही समय में तारक ने प्रथम बार सन् १८८१[६] के लगभग मध्य में रामचन्द्र दत्त के मकान में श्रीराम-

५. 'प्रबुद्ध भारत,' मार्च, १९३०, पृ. १२० ('एक शिष्य की डायरी')।

६. महेन्द्रनाथ चौधरी द्वारा बँगला में लिखित 'विवेकानन्द चरित' (रामकृष्ण सेवाश्रम, सिलचर, बंगाब्द १३२६) की

कृष्ण के दर्शन किये। कुछ वर्षों पहले तक प्रायः अज्ञात से श्रीरामकृष्ण भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ते और आसपास के क्षेत्रों में सबसे प्रभावी और प्रेमिक

भूमिका में स्वामी शिवानन्द ने स्वयं लिखा था कि वे श्रीरामकृष्ण से सर्वप्रथम रामचन्द्र दत्त के घर पर १८७९ या १८८० में मिले थे। बाद में ('प्रबुद्ध भारत', मार्च, १९३०, पृ. १०७) में स्वामीजी ने बतलाया कि वे ठाकुर को देखने के लिए एक भक्त के घर १८८० या १८८१ में गये थे।

अपूर्वानन्द, वही, पृ. २४ में कहा गया है कि अपनी प्रथम दक्षिणेश्वर-यात्रा के समय तारकनाथ का मित्र अपने साथ आम ले गया था। इससे अन्दाज होता है कि उस समय जून या जुलाई का महीना रहा होगा। 'श्रीश्रीरामकृष्ण कथामृत' (बँगला), १७ वाँ संस्करण, भा. १ पृ., ६ में 'म' जोर देकर कहते हैं कि प्रथम भेंट १८८१ के उत्तरार्ध के पूर्व ही हुई थी।

श्रीरामकृष्ण ३ मार्च से १० अक्तूबर १८८० तक दक्षिणेश्वर से बाहर कामारपुकुर में रहे। वहाँ से लोटने के शीघ्र बाद ही, पूजा के समय, वे रामचन्द्र दत्त के यहाँ गये थे, इसलिए स्वामी गम्भीरानन्द ('उद्बोधन', वर्ष ५२ पृ. ५१६) के अनुसार सम्भव है तारक ने तभी पहली बार ठाकुर को देखा था। परन्तु ऊपर उद्धृत अपने दोनों लेखों में स्वामी शिवानन्दजी बतलाते हैं कि उनकी प्रथम यात्रा उस समय हुई थी, जब स्वामी विवेकानन्द आदि भावी संन्यासी शिष्यों ने श्रीरामकृष्ण के पास आना आरम्भ कर दिया था। विवेकानन्द जी श्रीरामकृष्ण से सर्वप्रथम नवम्बर १८८१ में मिले (देखें 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' रामकृष्ण मठ नागपुर, भा० १ पृ.२०) और राखाल उनसे करीब छह महीने पूर्व आये और ठाकुर के पास आनेवालों में सबसे पहले थे। चूँकि शिवानन्दजी तिथि के सम्बन्ध में उदासीन थे पर व्यक्तियों के सन्दर्भ में उनकी स्मरण

धार्मिक नेता के रूप में उभर आये थे। एक शनिवार को तारक के एक मित्र ने जो रामचन्द्र दत्त का रिश्तेदार था, उन्हें बतलाया कि श्रीरामकृष्ण उस दिन रामचन्द्र दत्त के यहाँ पधारनेवाले हैं। तदनुसार तारक वहाँ गये। इसका वर्णन हम तारकनाथ के ही शब्दों में देखें :

"मैं शाम को किसी प्रकार रामबाबू के यहाँ पहुंचा मैंने देखा ठाकुर कमरे में लोगों से घिरे बैठे हैं। वे प्रायः बाह्यज्ञानशून्य थे। मैं उन्हें प्रणाम कर पास में बैठ गया। मुझे अचरज तब हुआ, जब मैंने उन्हें उसी विषय—समाधि—पर धाराप्रवाह बोलते सुना, जिसे जानने के लिए मैं उत्सुक था। मुझे विस्तार से तो अभी याद नहीं है। परन्तु यह याद है कि उन्होंने निर्विकल्प समाधि के सम्बन्ध में बतलाया था और कहा था कि कलियुग में बहुत थोड़े से लोग ही उसको पा सकते हैं; और यदि किसी ने पा ली तो उसका शरीर इक्कीस दिन से अधिक नहीं टिक पायेगा; सल्किया के श्याम मुखर्जी को निर्विकल्प समाधि हुई थी और इसके बाद वे इक्कीस दिन तक ही जीवित रहे।

शक्ति तीव्र थी, इसलिए यही सबसे उचित मालूम पड़ता है कि प्रथम भेंट का समय मई १८८१ ही मानना चाहिए। रामबाबू के यहाँ ठाकुर की दूसरी यात्रा उसी महीने में हुई थी। फिर स्वामी सारदानन्द ('श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', रामकृष्णमठ, नागपुर भा० ३, द्वि. सं. पृ० ४५) लिखते हैं कि भावी संन्यासी शिष्यों ने १८८१ के पूर्वार्ध में आना आरम्भ किया था।

"उस दिन ठाकुर से मेरी कोई बातचीत नहीं हुई।" [7]

परन्तु ठाकुर के शब्दों ने उनके हृदय पर गहरा प्रभाव डाला था।[8] यद्यपि यह विदित नहीं है कि तारक का परिचय उस दिन श्रीरामकृष्ण से कराया गया था या नहीं, पर यह प्रतीत नहीं होता कि श्रीरामकृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से तारक की साधक के रूप में महती सम्भावनाओं को पहचानने में कोई भूल की होगी।

अगले शनिवार को श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए जाने की इच्छा तारक के मन में ताजा बनी रही और एक मित्र, जो दक्षिणेश्वर में रहता था, साथ में जाने के लिए राजी हो गया। दफ्तर के बाद तारक नाव से अपने मित्र के घर पहुँचे और वहाँ से वे लोग कालीमन्दिर आये। सन्ध्या हो गयी थी और आरती होनेवाली थी। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को इधर-उधर खोजा और अन्त में उन्हें अपने कमरे के पश्चिमी गोल बरामदे में किसी की प्रतीक्षा करते हुए खड़े पाया। तारक के अन्दर एक विचित्र

---

७. 'प्रबुद्ध भारत', मार्च, १९३०, पृ० १२०-१।

८. सन्दर्भ– अपूर्वानन्द, वही, पृ० २३, "...मेरा मन आनन्द से मानो नाच रहा था....मुझे ऐसा लगा कि जो इस प्रकार समाधि के सम्बन्ध में इतने सहज शब्दों में कह रहा है, उसने निश्चय ही उसको प्राप्त किया है...। यदि किसी प्रकार उनकी कृपा की वर्षा मुझ पर हो जाय, तो मै भी समाधि प्राप्त कर लूँगा...।"

सा भय का भाव समा गया। उन्होंनें श्रद्धा के साथ परमहंस जी के चरण स्पर्श किये। श्रीरामकृष्ण ने सस्नेह पूछा, "तुमने मुझे पहले देखा था ?" "जी हाँ, पिछले शनिवार को रामबाबू के यहाँ।" उनके इस उत्तर से प्रसन्न हो ठाकुर ने तारक से थोड़ी बातें की और फिर अपने कमरे के भीतर ले गये। जैसे ही उन्होंनें छोटे तखत पर अपना आसन ग्रहण किया, तारक को लगा मानो उनकी अपनी माँ सामने बैठी हैं। इस अनुभूति से अभिभूत हो, तारक ने फिर से उनको प्रणाम किया और अपना मस्तक उनकी गोद में रख दिया। श्रीरामकृष्ण भी धीरे धीरे उनके सिर पर हाथ फिराने लगे। तारक ने बाद में लिखा था :

"थोड़ी सी बातचीत ही मेरे लिए पर्याप्त थी; ठाकुर के प्रति मुझे एकदम गहरे लगाव का अनुभव हुआ। मुझे लगा कि मैं उन्हें बहुत समय से जानता हूँ। मेरा हृदय आनन्द से भर उठा। उनमें मुझे अपनी कोमल, स्नेहमयी जननी मेरी राह देखते प्रतीत हुई। इसलिए बच्चे के समान विश्वास, श्रद्धा और निर्भरता के साथ पूरी तरह उन पर आश्रित हो मैंने अपने आपको उन्हें समर्पित कर दिया। मुझे विश्वास हो गया कि यही वे हैं, जिन्हें मैं इतने दिनों से खोज रहा था। उस दिन से मैं ठाकुर को अपनी माँ के रूप में ही देखता था। वे भी मुझसे उसी प्रकार व्यवहार करते।"

---

९. विविदिषानन्द, वही, पृ. २११–२।

थोड़ी देर बाद ही श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "तुम किसमें विश्वास करते हो—ईश्वर के साकार रूप में या निराकार में ?"

"ईश्वर के निराकार रूप में", तारक ने नम्रता से उत्तर दिया।

"परन्तु तुम जगन्माता—ईश्वर की शक्ति—को, जो स्वयं को विभिन्न रूपों में प्रकट करती है, मानने से इनकार नहीं कर सकते।"

सन्ध्यारती के शंख और घण्टियों की आवाज सुन श्रीरामकृष्ण कालीमन्दिर की तरफ चले, साथ में तारक को आने के लिए कहा। वहाँ उन्होंने जगन्माता की मूर्ति के समक्ष दण्डवत् प्रणाम किया। तारक थोड़ा संकुचित हो सोचने लगे कि क्या किया जाय, क्योंकि ब्राह्मसमाज में उन्होंने सीखा था कि मूर्ति के सामने दण्डवत् प्रणाम करना घोर पौत्तलिकता है। तथापि उनके भीतर यह विचार कौंधा—"इतनी द्वेष-भावना मैं अपने भीतर क्यों रखूँ ? ईश्वर तो सर्वव्यापी हैं, तब तो वह इस मूर्ति में भी जरूर होगा।" उनका सन्देह जब इस प्रकार दूर हो गया, तब वे भी मूर्ति के समक्ष दण्डवत् लेट गये। लगा कि श्रीरामकृष्ण तारक की प्रत्युत्पन्न मति और विचारों की उदारता देख बहुत प्रसन्न हुए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ठाकुर ने अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि से इस युवक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं

को आँक लिया था। उन्होंने तारक को रात में वहीं ठहरने के लिए कहा और बोले, "देखो, इस प्रकार की मात्र एक-दो भेंट से तुम्हें स्थायी लाभ नहीं मिल सकता। तुम्हें आते रहने पड़ेगा।" चूँकि तारक ने पास में ही अपने मित्र के घर पर रात में रुकने का वायदा कर दिया था इसलिए उन्होंने ठाकुर से क्षमा प्रार्थना की। इससे भी श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा, "हाँ, अपने दिए वचनों का पालन जरूर करना चाहिए। कलयुग में सत्य बोलना एक तपस्या है।" कुछ समय उपरान्त तारक को बिदा देते हुए उन्होंने सस्नेह कहा, "अच्छा, कल आना।"

तारक अपने मित्र के साथ वापस चले गये, पर श्रीरामकृष्ण उनके चित्त पर छाये हुए थे। ठाकुर के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। दूसरे दिन फिर वे उनके पास गये तथा उसके बाद तो प्रायः ही जाते रहते। उन्होंने बाद में लिखा था—"इस अविस्मरणीय भेंट के बाद घर तथा दफ्तर का जीवन मुझे भार स्वरूप प्रतीत होता। मैं प्रायः उनके पास दक्षिणेश्वर या कलकत्ता भाग जाता।"[१०] किसी के मन में यह उठ सकता है कि ऐसा श्रीरामकृष्ण में क्या था जिसने उनको इतना प्रभावित कर दिया था। तारक ने स्वयं इसका उत्तर दिया है—

"वे हमें प्रेम करते; और उनके इसी प्रेम ने हमें

१०. वही, पृ. २६२।

खींच लिया था। उनके प्रेम के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ? उनके प्रेम को समझाना कठिन है। बचपन में हम लोगों ने माँ-बाप का स्नेह पाया था और सोचते थे कि इससे बढ़कर और कोई प्रेम नहीं हो सकता। परन्तु श्रीराम-कृष्ण के समीप पहुँचकर मैंने पाया कि माँ-बाप का प्रेम उनके प्रेम की तुलना में तुच्छ है। उनके सान्निध्य में मुझे लगता कि मैं अपनी स्वयं की जगह में आ गया हूँ—उसके पहले मानो मैं अनजान जगह में था...। ठाकुर ने पहली भेंट से ही मुझे अपना बना लिया था।"[११]

उन अद्‌भुत दिनों का स्मरण करते हुए उन्होंने बाद में लिखा था—

"...हम लोग घण्टे दो घण्टे ठाकुर के साथ बिताते—कभी कभी बहुत कम बातें, वार्तालाप होता। पर उनके संग का प्रभाव कई दिनों तक बना रहता। हम लोग भगवान् का चिन्तन करते हुए मानो आध्या-त्मिक नशे में डूबे रहते।"[१२]

श्रीरामकृष्ण के ममत्व-भरे व्यवहार ने तारक के हृदय में जल्दी ही ऐसी लौ प्रज्वलित कर दी कि अब संसार उन्हें अधिक दिन तक नहीं बाँध सका। श्रीराम-कृष्ण के द्वारा स्पर्श करने पर, जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने

---

११. 'शिवानन्द-वाणी' (बँगला), (स्वामी अपूर्वानन्द द्वारा संकलित, तथा बेलुड़मठ, हावड़ा, द्वारा बंगाब्द १३४४ में प्रकाशित) भा. १, पृ. ३६–७।

१२. विविदिषानन्द, वही, पृ. ३०५।

स्वयं एक दिन वार्तालाप करते हुए बतलाया था, तारकनाथ ने अपने भीतर एक अत्यन्त आकुलता का अनुभव किया था, जिससे मन समाधिस्थ हो गया और फलस्वरूप समस्त-हृदय ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो गयीं।[१३] अपने परवर्ती जीवन में तारक ने लिखा था —

"मैं अभी तक अन्तिम रूप से यह समझ नहीं पाया हूँ कि वे मानव थे या अतिमानव, देवता थे या साक्षात् भगवान्। परन्तु मैंने उन्हें एकदम अहंभाव से रहित और सर्वोच्च त्याग का अधिकारी पाया है। वे उच्चतम ज्ञान के अनुभवी सिद्ध और प्रेम के तो साक्षात् मूर्तिमान विग्रह थे। जैसे जैसे मैं अध्यात्म के क्षेत्र से अधिकाधिक परिचित होता जा रहा हूँ तथा श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक भावों के अनन्त विस्तार और गहराई का अनुभव कर रहा हूँ, मेरा यह विश्वास बढ़ता ही जा रहा है कि उनकी भगवान् से, साधारणतः जिस अर्थ में हम भगवान् को समझते हैं, तुलना करना मानो उनकी परम महानता को कम करना और छोटा बनाना ही होगा।" [१४]

---

१३. सारदानन्द, वही, पृ. १८७ स्वामी शिवानन्द ने स्वयं लिखा है कि उन्हें 'श्रीरामकृष्ण के जीवन में उनके स्पर्श तथा इच्छा से तीन बार उस सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था (समाधि) को प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था।" ('प्रबुद्ध भारत', मार्च, १९३०, पृ० ११०,)

१४. 'प्रबुद्ध भारत', मार्च १९३०, पृ० १०७।

यही वह धारणा थी, जिसका पूर्ण विकास और गरीमामयी अभिव्यक्ति हमें तारक के जीवन में दिखायी देती है, जो उन्हें धीरे धीरे स्वामी शिवानन्द के रूप में परिणत करती है, जिन पर बाद में रामकृष्ण संघ के दूसरे परमाध्यक्ष के रूप में दीर्घ बारह वर्षों तक इस संघ के संचालन का उत्तरदायित्व न्यस्त होता है। अहंकार से शून्य[१५] तथा सभी प्रकार की स्वार्थमय वासनाओं से पूर्णतः मुक्त रहते हुए लगभग अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु तक वे 'उनकी (श्रीरामकृष्ण की) महान् आध्यात्मिक शक्ति के प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप' इस धरती पर विद्यमान रहे।

---

१५. कई बार वे अपने पालतू कुत्ते को दिखाते और अपनी ओर दिखाकर कहते, "यहाँ उसका मालिक है"; और अपनी ओर तथा ठाकुर की तस्वीर दिखाकर कहते, "और यह उनका कुत्ता है।" (विविदिषानन्द, वही, पृ० १२२-३ के अनुसार)।

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (१)

'श्री"

प्रस्तुत लेखमाला में श्रीरामकृष्णदेव के गाये हुए भक्तिगीतों के मूल शब्द, संक्षिप्त विवरण एवं हिन्दी पद्यानुवाद देने का विचार किया गया है। अनुवाद को यथासम्भव मूल के अत्यन्त निकट रखने का प्रयत्न किया गया है, साथ ही उसे गेय बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

(१)

(देखिए 'श्रीरामकृष्णवचनामृत,' दि. १८ अक्तूबर १८८४)

रचयिता–कमलाकान्त

(राग–मिश्रसिन्धु : ताल झपताल)

सदानन्दमयी काली महाकालेर मनोमोहिनी।
तुमि आपनि नाचो, आपनि गाओ,
आपनि दाओ मा करतालि ॥

आदिभूता सनातनी शून्यरूपा शशिभाली।
ब्रह्माण्ड छिलो ना जखन, मुण्डमाला कोथाय पेलि ॥

सबे मात्र तुमि जन्त्री, आमरा तोमार तन्त्रे चलि।
तुमि जेमनि नाचाओ तेमनि नाचि,
जेमनि बोलाओ तेमनि बोलि ॥

अशान्त कमलाकान्त दिये बोले मा गालागालि।
एबार सर्वनाशी धरे असि धर्माधर्म दुटि खेलि ॥

भावानुवाद

(राग-मिश्रसिन्धु : ताल-कहरवा)

सदानन्दमयि जगजननी तुम
महाकाल-मनमोहिनि काली ।

निजानन्द में सदा विभोरा
नाचो गाओ देकर ताली ॥ ध्रु ॥

आदिशक्ति तू सनातनी है,
अरूपरूपिणि तू शशिभाली ।
जब ब्रह्माण्ड न था तब कैसे
बनी मात तू नृ-मुण्डमाली ॥१॥

तू यंत्री, हम यंत्र सभी हैं,
चलें तंत्र से तव् जग-चाली ।
नचा रही तू हमको जैसा
नाच रहे हम वैसे खाली ॥२॥

सत्यानाशी कहकर तुझको
अशान्त साधक देता गाली ।
धर्म-अधर्म वृत्तियाँ दोनों
असिधारिणि, तूने खा डालीं ॥३॥

(२) (देखिये 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', दि. १८ अक्तूबर १८८४)

रचयिता-कमलाकान्त

(राग-सिन्धुखमाज : ताल-झपताल)

भजलो आमार मन-भ्रमरा श्यामापद-नीलकमले।
(श्यामापद-नीलकमले कालीपद-नीलकमले ॥)
जतो विषय-मधु तुच्छ होलो कामादि कुसुम सकले ॥
चरण कालो, भ्रमर कालो, कालोय कालो मिशे गेलो,
पंचतत्त्व प्रधान मत्त रंग देखे भंग दिले ॥
कमलाकान्तेर मने, आशा पूर्ण एतो दिने,
तार सुख-दुःख समान होलो आनन्दसागर उथले ॥

भावानुवाद

([illegible]-सिन्धुखमाज : ताल-कहरवा)*

म[illegible] तु[illegible] [illegible]न-भ्रमर हमारा
श्यामापदतल-नीलकमल में।
(श्यामापदतल-नीलकमल में,
कालीपदतल-नीलकमल में ॥)
कामादि-कुसुम-निहित विषय-मधु
तुच्छ हो गया कैसे पल में ॥ध्रु.॥
श्रीपद काला, मन भी काला,
दोनों एकरूप कर डाला।
रंग देख पंचतत्त्व पागल
भाग जा मिला अपने दल में ॥१॥
साधक रहा नहीं अब प्यासा,
हुई पूर्ण मन की सब आशा।
सुख-दुख एक हुए ; लहराए
आनंद-सागर अन्तस्तल में ॥२॥

(३) (देखिए 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' दि. २७ अक्तूबर १८८२)

रचयिता-कमलाकान्त

(राग–मिश्र मल्लार:ताल–एकताल)

श्यामा मा कि आमार कालो रे।
(कालरूपा दिगम्बरी हृदि पद्म करे आलो रे ।।)
लोके बोले काली कालो, (आमार) मन तो बोले ना कालो रे ।।
कखनो श्वेत कखनो पीत, कखनो नील लोहित रे।
(आमि, आगे नाहि जानि, केमन जननी, भाविये जनम गेलो रे ।।
कखनो पुरुष, कखनो प्रकृति, कखनो शून्यरूपा रे।
(मायेर) ए भाव भाविये कमलाकान्त, सहजे पागल होलो रे ।।

भावानुवाद

(राग–मिश्र मल्लार : ताल–[illegible])

क्या श्यामा माँ है काली रे।
(वह कालरूपिणी दिगम्बरी
हिय में भर दे उजियाली रे) ।।ध्रु.।।
लोग कहें 'काली' पर मेरा
मन न कहे वह काली रे ।।
वर्ण कभी श्वेत कभी पीला,
कभी रक्तिमाभ कभी नीला ।
(मैं) जान न पाया माँ की माया,
जन्म गँवाया खाली रे ।।१।।
कभी पुरुष वह कभी प्रकृति है,
कभी अरूपा शून्याकृति है ।
अगम भाव वह सोच-सोच मति
सहज हुई मतवाली रे ।।२।।

(४)

(देखिए 'श्रीरामकृष्णवचनामृत,' दि २९ नवम्बर १८८३)

रचयिता कमलाकान्त

(राग–कालिगंडा: ताल-झपताल)

जतने हृदये रेखो आदरिणी श्यामा मा के
मन तुइ देख आर आमि देखि, आर जेनो केउ नाहि देखे ॥
कामादिरे दिये फाँकि, आय मन बिरले देखि,
रसनारे संगे राखि, से जेनो मा बोले डाके ॥

कुरुचि कुमन्त्री जतो, निकट होते दिओ नाको,
ज्ञान-नयने प्रहरी रेखो, से जेनो सावधाने थाके ॥

कमलाकान्तेर मन, भाइ आमार ए निवेदन,
दरिद्रे पाइले रतन, से कि अजतने राखे ॥

(भावानुवाद)

(राग–कालिगंडा: ताल-त्रिताल)

परम जतन से अन्तर में निज
श्यामा माँ को रखो बसाये।
तू देखे औ' मैं देखूं मन,
दूजा कोई देख न पाये ॥ ध्रु. ॥
कामादि को भुलावा देके
आओ मन निर्जन में देखें।
चलो, साथ रसना को लेके
'माँ' कह वह पुकारती जाये ॥ १ ॥

कुरुचिपूर्ण कुविचार-मन्त्रणा
निकट कभी न फटकने देना।
ज्ञाननेत्र को प्रहरी रखना
रहे सजग वह, सो ना जाये ॥ २ ॥

साधक कहता हे मेरे मन,
सुन ले मेरा नम्र निवेदन।
निर्धन को यदि मिले परमधन
देता क्या बिन जतन गँवाये ॥ ३ ॥

रामकृष्ण मठ, कनखल (हरिद्वार)

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के श्रीविग्रह का स्थापन

हरिद्वार क्षेत्र में साधु-संन्यासियों की चिकित्सा का किसी भी प्रकार का प्रबन्ध न देख स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन-काल में ही अपने ही शिष्यों को वहाँ भेज चिकित्सा-सेवाकार्य प्रारम्भ करने का आदेश दिया था। तदनुसार कनखल में सन् १९०१ में रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम की स्थापना की गयी और शीघ्र ही उसे एक सार्वजनिक चिकित्सालय का रूप दिया गया, जहाँ साधु-संन्यासियों के साथ साथ अन्य रुग्ण पुरूषों की भी चिकित्सा की जाती रही। आज यह समस्त आधुनिक साधनों से सम्पन्न ६५ शय्या का एक इनडोर अस्पताल है।

१९७२ में इस सेवाश्रम में एक 'श्रीरामकृष्ण मन्दिर' का निर्माण किया गया, जहाँ रामकृष्ण संघ के अनेक संन्यासियों एवं भक्तों की उपस्थिति में संघाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की प्रतिकृति की स्थापना की। उपासना और अध्ययन-अध्यापन आदि पर विशेष बल देने के लिए १९८० में यहाँ रामकृष्ण मठ का केन्द्र भी स्थापित किया गया और यह निर्णय लिया गया कि मन्दिर में प्रतिकृति के स्थान पर भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के श्रीविग्रह की स्थापना की जाय।

तदनुसार ३ दिसम्बर १९८१-को बाहर से इस कार्यक्रम में भाग लेने आये संघ के लगभग ८५ संन्यासियों एवं १००० भक्तों की उपस्थिति में श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने मन्दिर में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के संगमर्मर के बने श्रीविग्रह की प्रातःकाल ७ बजे विधिवत् स्थापना की। इस अवसर पर

ग्यारह दिवस व्यापी स्थापना-समारोह का आयोजन किया गया था, जिसके अन्तर्गत २४ नवम्बर से १ दिसम्बर तक 'भागवत सप्ताह' था। भागवत के प्रवचनकार थे डा. विष्णुदत्त 'राकेश'। २ दिसम्बर को प्रातः उसकी पूर्णाहुति थी।

२ दिसम्बर को सायंकाल ४ बजे एक सुन्दर सजे पंडाल में सार्वजनिक सभा आयोजित थी, जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने की। चर्चा का विषय था—'वेदान्त एवं दैनिक जीवन में उसका व्यवहार'। वक्ता थे स्वामी रंगनाथानन्द, अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, हैदराबाद तथा स्वामी व्योमरूपानन्द, अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, नागपुर।

३ दिसम्बर को प्रातः ४॥ बजे से मंगल आरती, वैदिक मंत्रपाठ और भजन आदि का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। रामकृष्ण संघ के संन्यासीगण श्रीरामकृष्ण देव के स्मृति-चिह्नों के साथ, जिसे स्वामी भूतेशानन्दजी वहन कर रहे थे, एक शोभायात्रा पर ६॥ बजे सुबह नकले और ठीक ७ बजे स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने मन्दिर का द्वारोद्घाटन कर श्रीरामकृष्ण के श्रीविग्रह की पूजा और आरती कर उसकी स्थापना का कार्य विधिवत् सम्पन्न किया। उसके बाद विशेष पूजन प्रारम्भ हुआ और लगभग १॥ बजे दिन को हवन के साथ स्थापना का अनुष्ठान समाप्त हुआ।

संध्या ४ बजे दूसरी सार्वजनिक सभा थी, जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण संघ के दूसरे उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज ने की। इस दिन विचार का विषय था—'श्रीरामकृष्ण देव के उपदेश तथा वर्तमान जीवन में उसका सामंजस्य'। वक्ता थे, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, लखनऊ के सचिव, स्वामी धरानन्द तथा रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के अध्यक्ष स्वामी श्री व्योमानन्द। रात्रि में रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कनखल और वृन्दावन की गतिविधियों को वीडियो टेप के माध्यम से प्रदर्शित किया गया।

अन्तिम कार्यक्रम ४ दिसम्बर को ९-३० बजे प्रातः प्रारम्भ हुआ। इस सार्वजनिक सभा के अध्यक्ष थे श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज। उन्होंने इस उपलक्ष में प्रकाशित स्मारिका का विमोचन भी किया और सभा के विवेच्य विषय–'संन्यास तथा वर्तमान समय में समाज के प्रति उसका कर्तव्य'–पर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश डाला। उनके अंगरेजी भाषण का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव, स्वामी आत्मानन्द ने। (स्वामी वीरेश्वरानन्द जी के भाषण का हिन्दी सारांश नीचे दिया जा रहा है।) तत्पश्चात् निम्न पांच वक्ताओं द्वारा उपर्युक्त विषय पर प्रकाश डाला गया–(१) १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द जी गिरि महाराज, शंकर मठ, माउंट आबू, (२) १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी रामस्वरूपजी महाराज, अध्यक्ष, भारत साधु समाज (३) १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज, कृष्ण निवास आश्रम, कनखल, (४) १००८ श्री हरमिलाप मुनिजी महाराज, हरद्वार तथा (५) स्वामी आत्मानन्द।

कार्यक्रम के पश्चात् 'साधु भण्डारा' हुआ, जिसमें विभिन्न अखाड़ों से आये हुए लगभग १००० साधु-संन्यासियों को भोजन कराया गया तथा प्रत्येक को वस्त्र (धोती) प्रदान किया गया। शाम को ४ बजे वृन्दावन की रासलीला पार्टी द्वारा 'रासलीला' प्रदर्शित की गयी और यह ग्यारह दिवसीय कार्यक्रम ५ दिसम्बर को "नारायण सेवा" से समाप्त हुआ।

बाहर से आये हुए लगभग १०० संन्यासी-ब्रह्मचारियों तथा १००० भक्तों के निवास और भोजन की उत्तम व्यवस्था की गयी थी।

०

स्वामी वीरेश्वरानन्दजी का उद्‌बोधन

(मूल अँगरेजी भाषण का हिन्दी सारांश)

आदरणीय स्वामीजीगण एवं मित्रो,

जो विषय विचार के लिए रखा गया है ('संन्यास तथा वर्तमान समय में समाज के प्रति उसका कर्तव्य'), उसे मैं कठिन मानता हूँ, क्योंकि उसकी ध्वनि कुछ उपदेशात्मक-सी प्रतीत होती है और मैं आरम्भ में ही स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि मैं कोई उपदेश देने नहीं जा रहा हूँ, प्रत्युत मेरे भीतर इस विषय को सोचते हुए जो विचार उठ रहे हैं, उन्हीं को आपके समक्ष रखने की चेष्टा करने जा रहा हूँ।

हमने भारत में व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में बाँटा है। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह गुरुगृह जाकर विद्याध्ययन करता और अपने को जीवन संघर्ष के लिए तैयार करता। उसके बाद वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता। वास्तव में गृहस्थाश्रम ही अन्य सब आश्रमों का आधार था, क्योंकि एकमात्र उसी में मनुष्य उपार्जन करता। तत्पश्चात् वह वानप्रस्थ से होकर संन्यास आश्रम में प्रवेश करता। संन्यासी को सब कुछ त्यागकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करना पड़ता। आश्रमों का यह विभाजन बड़ा मनोवैज्ञानिक था, क्योंकि इसमें व्यक्ति को अपने संस्कारों को क्रमशः उदात्त बनाने का अवसर प्राप्त होता। हमने जीवन के चार पुरुषार्थ माने—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष ही हमारा अन्तिम लक्ष्य है, पर व्यक्ति एकबारगी उसकी ओर नहीं जा सकता। उसके भीतर इच्छाएँ और वासनाएँ होती हैं, अर्थ और काम की प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिनकी कुछ मात्रा में पूर्ति आवश्यक है। आश्रम-व्यवस्था के ये सोपान मनुष्य को अर्थ और काम की वृत्तियों के मर्यादापूर्ण उपभोग के द्वारा क्रमशः उच्च से उच्चतर जीवन-मूल्यों के लिए प्रस्तुत करते। मानव-जीवन तब निरुद्देश्य

नहीं समझा जाता। संन्यासियों के देखने मात्र से लोगों को उच्चतर जीवन-मूल्यों की प्रेरणा मिलती। भले ही वे समाज से कटे रहते, फिर भी तब धर्म की समाज में ऐसी स्थिति थी कि संन्यासी समाज के लिए प्रेरणा का केन्द्र बना रहता।

जब मनुष्य का सामाजिक जीवन शान्त होता है, तो जीवन के उच्चतर मूल्य समाज में पनपते हैं, नैतिकता और अध्यात्म फलता-फूलता है। पर युद्ध इस सन्तुलन को नष्ट कर देता है और समाज का जीवन विक्षोभ और तनाव से भर जाता है तथा मनुष्य की नैतिकता में गिरावट आ जाती है। गीता में अर्जुन ने युद्ध से इसी खतरे की बात कही है और बताया है कि पुरुषों के मारे जाने से समाज में वर्णसंकरता फैलती है और नैतिकता के मापदण्ड समाप्त हो जाते हैं। हमने अपने जीवन में दो महायुद्धों की तबाही देखी है। उसके बाद से ही समाज की नैतिकता में तीव्र गति से ह्रास आया है। आज जनजीवन तनावों से ग्रस्त हो गया है। आज समाज को पहले से भी अधिक मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है। और यह मार्गदर्शन उसे संन्यासियों से ही प्राप्त हो सकता है।

अब इस सन्दर्भ में हम संन्यासियों के दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक तो यह कि हम पूर्व के समान ही अपने को समाज से अलग-थलग रखें और यह सोचें कि हमें समाज से क्या लेना-देना है? और दूसरा यह कि समाज की पीड़ा को हम अपनी पीड़ा समझें तथा समाज के असन्तुलन को दूर करने के लिए हम संसारी-व्यक्ति के स्तर तक उतरें और उनके बीच जाकर काम करें। मेरी समझ में हमें इस दूसरे उपाय पर ही अधिक जोर देना पड़ेगा, क्योंकि यदि हम संसार के लोगों के साथ मेल-जोल करने से कतराएँगे, तो धीरे धीरे हमारा यह संन्यासी-सम्प्रदाय ही शक्ति-हीन हो जायगा। जहाँ तक मुझे विदित है, आज सभी संन्यासी-सम्प्रदायों के पास उचित संख्या में संन्यासी नहीं हैं। यदि मेरे

कथन में कोई त्रुटि हो, तो मैं उसका सुधारा जाना पसन्द करूँगा। ईसाइयों के कैथोलिक सम्प्रदाय के पास निष्ठावान् संन्यासी-सदस्यों की संख्या क्रमशः गिरती जा रही है। इसका कारण समझने की चेष्टा यदि करें, तो पाएँगे कि आखिर हम संन्यासी लोग समाज में से ही तो आते है, कहीं ऊपर आकाश से तो नहीं टपकते। और संन्यासी उसी समाज से आते हैं जो नैतिक दृष्टि से उन्नत होता है। यदि हम संसार के लोगों के बीच जाकर काम न करेंगे, तो उनमें सुधार कैसे आएगा ? यदि उनमें सुधार न हो तो हमें त्यागी सन्तानें कहाँ से प्राप्त होंगी ? असंस्कारित समाज में यदि कोई संन्यासी निकला भी, तो वह वार्तिककार की भाषा में 'पिशुनाः कलहोत्सुकाः (निन्दा और कलह के लिए उत्सुक) की श्रेणी का ही होगा, जैसा कि मधुसूदन सरस्वती गीता (के पाँचवें अध्याय के छठे श्लोक) की व्याख्या में उद्धृत करते हैं ! ईसा मसीह ने बाइबिल में जो कहा है कि काँटों में आम नहीं फलते, न ही कँटीली झाड़ियों में डूमर फला करते हैं, उसका भी यही तात्पर्य है। अतः हमें अपने स्वार्थ को देखते हुए भी समाज के बीच जाना चाहिए और लोगों के साथ मिलकर उनके जीवन को समुन्नत करने की चेष्टा करनी चाहिए। समाज को संस्कारित करने का कार्य संन्यासी ही कर सकता है।

आप सभी जानते हैं कि आज जो शिक्षाप्रणाली प्रचलित है, वह अत्यन्त दोषयुक्त है। उसमें नीति और धर्म के लिए स्थान नहीं है। हमारे बच्चों को आज उनका विद्यालय कोई ठोस संस्कार नहीं दे पाता। आज की शिक्षा अर्थंकरी है। वह केवल भौतिक समृद्धि पर जोर देती है। पर पूर्व में हमारे यहाँ अपरा और परा दो विद्याओं पर जोर दिया गया। अपरा विद्या से जीवन भौतिक दृष्टि से समृद्ध होता है और परा विद्या जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करती है। भारत में हमने कभी केवल अपरा विद्या पर जोर नहीं दिया। हम उपनिषद में पढ़ते हैं कि नारद सब

प्रकार की अपरा विद्या के ज्ञाता थे, तथापि वे असन्तुष्ट थे, उनका जीवन अशान्त था। वे एक सन्त के पास जाते हैं—सनत कुमार के पास पहुंचते हैं और कहते हैं—"भगवन्, मैं इन सब लौकिक विद्याओं को तो जानता हूं, पर मेरा शोक दूर नहीं हो रहा है। मैं इन शब्दराशियों का ज्ञाता तो हूं, पर आत्मा का नहीं इसीलिए शोक कर रहा हूं। आप मुझे शोक के उस पार ले चलिए।" और तब सनकुमार उन्हें पराविद्या का उपदेश देते हैं, जिससे आत्मा का ज्ञान होता है। पराविद्या के जान लेने से सब विद्याओं का ज्ञान हो जाता है, जैसे मिट्टी के एक लोंदे को जान लेने से जो कुछ भी मिट्टी का बना है उस सबका ज्ञान हो जाता है।

तो, पहले हमारे यहाँ अपरा और परा दोनों विद्याओं का ज्ञान दिया जाता था, जिससे हमारा जीवन भौतिक दृष्टि से सुविधामय हो और आध्यात्मिक दृष्टि से धन्य। पर आज जो शिक्षा हमारे बच्चों को मिलती है, उसे शिक्षा न करना ही उचित होगा। इस दृष्टि से संन्यासियों का समाज के बीच आकर काम करना और भी आवश्यक हो जाता है। जब हमारी पाठशालाएं और विद्यालय बच्चों को चरित्र-गठन की शिक्षा नहीं दे पाते, तब हम संन्यासियों का यह दायित्व हो जाता है कि हम यह कार्य अपने हाथों में लें और बच्चों में संस्कार डालने के लिए प्रयत्नशील हों। केवल धन-सम्पदा मनुष्य की रक्षा नहीं कर सकती। कहा भी तो है कि मनुष्य केवल रोटी पर ही जिन्दा नहीं रहता। उसे जिन्दा रहने के लिए और कुछ चाहिए। और वह है जीवन के उच्चतर मूल्य। इन उच्चतर मूल्यों की शिक्षा देने के लिए संन्यासी-समाज को अब लोगों के बीच घूमना होगा—जन जन के पास जाकर अलख जगाना होगा। समाज के हर क्षेत्र और हर स्तर पर जाकर कार्य करना होगा। गांव गांव घूमकर एक ओर वहाँ के लोगों को अपने भौतिक जीवन-स्तर को ऊंचा करने की शिक्षा देनी होगी—तरह तरह के उद्योग-धन्धे सिखाने होंगे तो दूसरी ओर उन्हें धर्म और अध्यात्म की शिक्षा देकर चरित्र-गठन का पाठ पढ़ाना होगा। अपने व्यवहार और अपने ज्ञान से मनुष्य

मनुष्य के बीच का कृत्रिम भेद दूर करना होगा, जातिगत विषमता से उत्पन्न असन्तुलन को समाप्त कर देना होगा। नये विद्यालय, नये महाविद्यालय चलाने होंगे, जहाँ विद्यार्थियों को भारतीय जीवन-मूल्यों की शिक्षा दी जा सके, जिससे संन्यासी का अधिक से अधिक सम्पर्क समाज से बन सके। ये शिक्षालय समस्त विषमताओं को दूर करने का सशक्त केन्द्र बनेंगे, वे मानवी एकता का पाठ पढ़ाएँगे। यदि हम संन्यासियों ने समाज के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्पर्क रखा होता, तो आज हमारे बहुत से भाइयों के दूसरे धर्म में चले जाने की जो घटना घटी है, वह नहीं घट पाती। इससे हमें सावधान हो जाना चाहिए और समाज के सभी स्तरों पर अपने सम्पर्क को तीव्र बनाने की दृष्टि से कार्यशील हो जाना चाहिए।

मुझे लगता है मैंने कहीं अपनी मर्यादा का उल्लंघन तो नहीं किया है, पर मैं यह विश्वास दिलाना चाहूँगा कि मैंने उपदेश देने की दृष्टि से ये बातें नहीं कही हैं। मुझे अन्यथा न समझा जाय। साधु-सम्प्रदाय को उपदेश देने की धृष्टता नहीं करना चाहूँगा। यह तो मैंने आत्मविश्लेषण किया है। मेरे अपने मन में जो विचार उठ रहे थे कि हम संन्यासी लोग समाज के लिए क्या कर सकते हैं, बस उन्हीं विचारों को शाब्दिक अभिव्यक्ति दी है। इससे ऐसा भी नहीं समझ लेना चाहिए कि मात्र साधु-संन्यासियों को ही यह सब कार्य करना है, बल्कि जो गृहस्थ श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के भक्त हैं, उन्हें भी यह कार्य करना है। जो लोग अपने को रामकृष्ण-विवेकानन्द का भक्त मानते हैं, उन्हें गाँव में जाना होगा और लघु कुटीर-उद्योगों के माध्यम से वहाँ की आर्थिक विपन्नता दूर करने की योजनाबद्ध चेष्टा करनी होगी। तभी वे सही मायनों में रामकृष्ण-विवेकानन्द के भक्त कहलाने के अधिकारी बन सकेंगे।

मैं इस अवसर पर श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द के चरणों में यही प्रार्थना करता हूँ कि वे हम सबका कल्याण करें और अपनी कृपा का हमें अधिकारी बना लें।

०

विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो

स्वर्ण जयन्ती महोत्सव, १९८१

विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो का शुभारम्भ १९ जनवरी १९३० को हुआ था। उसने अब अपने सक्रिय और सेवामय जीवन के पचास वर्ष पूर्ण कर लिये हैं। वह संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के मध्य-पश्चिम क्षेत्र के लोगों को अपनी आध्यात्मिक सेवा प्रदान करता रहा है, और विगत पन्द्रह वर्षो में तो स्वामी भाष्यानन्द के नेतृत्व और मार्ग दर्शन में उसने विलक्षण सक्रियता और गतिशीलता का परिचय दिया है। अतः उसका स्वर्ण-जयन्ती-महोत्सव भी इस केन्द्र की कर्मठता के ही अनुरूप विशाल पैमाने पर आयोजित हुआ है।

महोत्सव का प्रारम्भ ८ मार्च १९८१ को सोसायटी मन्दिर से हुआ, जहाँ श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथि के उपलक्ष में पूजा और हवन अनुष्ठित हुआ। ४ अप्रैल को सितार-वादन तथा भारतीय शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम रखे गये। तत्पश्चात् १५ मई को महाभोज रखा गया, जिसमें रामकृष्ण संघ के प्रतिष्ठित संन्यासीगण तथा सुप्रसिद्ध एस्ट्रो-फिजिसिस्ट डा० एस. चन्द्रशेखर, एमेरिटस प्रोफेसर, शिकागो यूनिवर्सिटी सम्मिलित हुए। सन्ध्या की गोष्ठी का विषय था—'सत्य की ओर पदचारण: वेदान्त और आधुनिक विज्ञान' (The Approach to Reality: Vedanta and Modern Science)। उसके बाद के दो दिन, १६ और १७ मई को 'विवेकानन्द मानेस्टरी और रिट्रीट' गँजेस टाउन, मिशिगन में, जो कि शिकागो सोसायटी का ही एक उप-केन्द्र है, वसन्तोत्सव का वार्षिक कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

स्वर्ण-जयन्ती-वर्ष-महोत्सव का दूसरा चरण १३ जून १९८१

से शुरू हुआ। उस दिन संध्या ६.३० बजे इमर्सन जूनियर हाई स्कूल, ओक पार्क, इलिनॉय में शास्त्रीय कर्नाटक संगीत तथा 'भारत नाट्यम्' नृत्य का दातव्य आयोजन किया गया।

शुक्रवार, ७ अगस्त को विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी के उपासना-गृह में मेरीलुईस बर्क, जो भक्तों में 'गार्गी' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा पश्चिम में स्वामी विवेकानन्द की प्रमुख प्रवक्ता हैं, ने 'पश्चिम के लिए अद्वैत' विषय पर भाषण दिया। गार्गी का मत यह है कि यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने द्वैत और विशिष्टाद्वैत इन दो मतवादों की भी चर्चा की, फिर भी उनका पश्चिम में आने का मुख्य उद्देश्य अद्वैत वेदान्त की शिक्षा देना था। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि "मानव-मन द्वैतवाद में नहीं रुक पाता। हम पश्चिम के लोगों को आगे बढ़ना चाहिए; हम बाह्य जगत् में तो एकत्व की चर्चा करें और आध्यात्मिक जगत् में उस एकत्व को नकार दें ऐसा नहीं हो सकता।"

शनिवार, ८ अगस्त को विवेकानन्द मानेस्टरी और रिस्ट्रीट, गैंजेस टाउन, मिशिगन में उत्सव के कार्यक्रम चलते रहे। ११ बजे दिन को मठ के उपासना-गृह में पूजादि का अनुष्ठान हुआ। १२.१५ बजे हवनादि के द्वारा संग्रहालय का उद्‌घाटन किया गया। इसका संचालन सैन फ्रांसिस्को स्थित वेदान्त सोसायटी ऑफ नार्दर्न कैलिफोर्निया के प्रमुख स्वामी प्रबुद्धानन्द ने किया।

अपराह्न में, मंगलाचरण और भक्तिमूलक संगीत के बाद, स्वामी भाष्यानन्द ने मेरी लुइस बर्क का परिचय दिया, जिन्होंने इस समय 'वेदान्त की तीसरी श्रेणी' पर अपने विचार प्रकट किये। यह जो 'वेदान्त की तीसरी श्रेणी' का नामकरण है, वह स्वामी विवेकानन्द के उन शब्दों से अनुप्रेरित हुआ था, जो उन्होंने अपने शिष्य शरच्चन्द्र चक्रवर्ती से कहे थे—"तुम न तो गृहस्थ हो, न संन्यासी ही, बल्कि एक तीसरी श्रेणी के हो।" उसकी अनुप्रेरणा

असीसी के सन्त फ्रांसिस के उस आन्दोलन से भी मिली थी, जो गैर संन्यासियों के लिए था और जिसे 'तीसरी श्रेणी' कहकर पुकारा गया था—'संसार में रहना पर उसके होकर नहीं'। गार्गी ने आगे कहा कि गैर-संघबद्धता की यह नयी किस्म अपने आप में एक श्रेणी है। यह न तो संन्यासवाद है, न गृहस्थवाद, बल्कि उसका आदर्श रहे महावीर, जो श्री राम के अनन्य भक्त और सेवक रहे। गार्गी ने आगे बतलाया कि एक वेदान्ती महावीर, "एक ऐसा नर या नारी है, जो अविवाहित है, जिसने रामकृष्ण संघ के किसी संन्यासी से मंत्र-दीक्षा ली है और जो मानवता के हितसाधन के लिए समर्पित है।"

स्वामी भाष्यानन्द ने अगले सत्र के विचार के विषय की घोषणा की और वह था—'श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों का विश्व पर बढ़ता हुआ प्रभाव'। तत्पश्चात् स्वामी प्रबुद्धानन्द बोले। उन्होंने ईश्वर की सुलभता पर जोर दिया। उन्होंने कहा—श्रीरामकृष्ण ने इस पर बल दिया है कि धर्म का अर्थ है—आध्यात्मिक और गहन अनुभूति। श्रीरामकृष्ण ईश्वर से अत्यन्त घनिष्ठतापूर्वक बातें करते थे, मानो वे एक व्यक्ति हों, जिनके साथ बातचीत की जा सकती हो। श्रीरामकृष्ण की सार्वभौमता की चर्चा करते हुए उन्होंने आगे कहा कि श्रीरामकृष्ण में ऐसी विलक्षण प्रतिभा थी कि वे हर व्यक्ति के साथ उसके अपने मन की भाषा में बात कर ले सकते थे।

उसके बाद के वक्ता थे स्वामी भव्यानन्द, जो रामकृष्ण वेदान्त सेंटर, लन्दन के प्रमुख हैं। वे इसी समारोह के लिए विशेष रूप से आमंत्रित होकर आये थे। अपने आसाम और इंग्लैण्ड के अनुभवों से कई मनोरंजक घटनाओं को ले, अपने सुखद विनोद का पुट देते हुए उन्होंने बहुत से चुटकुले सुनाये और उनके द्वारा यह प्रदर्शित किया कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण

की शक्ति उनके मुक्ति के सन्देश को विश्व भर में फैलाने के लिए अद्भुत रूप से कार्य कर रही है।

सान्ध्य उपासना और निशाहार (ब्यालू) के बाद 'विश्व में वेदान्त' पर स्लाइड्स दिखाये गये।

रविवार, ९ अगस्त को, प्रातः ५ बजे से वीणा-वादन के साथ दिन आरम्भ हुआ। उसके बाद प्रार्थना हुई और फिर ध्यान। नाश्ते के बाद संग्रहालय-दर्शन का कार्यक्रम बना। रविवासरीय उपासना पियानो-वादन से शुरू हुई। तत्पश्चात् स्वामी भव्यानन्द ने मंगलाचरण किया और फिर प्रार्थना की। कुछ और भजन के बाद उस दिन का विषय-'आध्यात्मिक जीवन गढ़ने के सोपान'—प्रस्तुत किया गया। वक्ता थे स्वामी प्रबुद्धानन्द और भव्यानन्द। स्वामी प्रबुद्धानन्द ने जीवन की व्याख्या 'उन्नति और विकास में आत्म-अभिव्यक्ति' के रूप में की। उन्होंने कहा कि अनुशासन और साधना के द्वारा इस उन्नति की गति को द्रुत किया जा सकता है, और इस उन्नति को जीवन के आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्त होना चाहिए। स्वामी भव्यानन्द ने बताया कि आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के जीवन को गढ़ने के सोपान एक समान ही हैं, और इसके लिए कोई सरल रास्ता नहीं है। मानवी स्तर पर अनुशासन ही एकमात्र कारगर उपाय है। भव्यानन्दजी ने ध्यान, धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय और खराब आदतों का न बनने देना—इनको सोपानों के रूप में निरूपित किया।

आभार-प्रदर्शन के बाद स्वर्ण जयन्ती-वर्ष १९८१ के महोत्सव का दूसरा चरण समाप्त हुआ।

तीसरे चरण के रूप में सितम्बर से नवम्बर तक शिकागो के मंदिर में रविवासरीय व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया, जिसमें विश्व के विभिन्न धर्मों पर भाषण रखे गये। प्रत्येक

धर्म का प्रतिनिधित्व उसके सुविज्ञ अनुयायी और प्रवक्ता के द्वारा किया गया। इस प्रकार शिकागो में सितम्बर १८९३ में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने जो भाग लिया था, उस अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना की स्मृति-रक्षा करते हुए मानो वह स्वर्ण-जयन्ती-वर्ष में आयोजित धर्मों का सम्मेलन था। इस सम्मेलन की समाप्ति २२ नवम्बर को हुई, जब प्रमुख प्रवक्ता थे विश्व विख्यात विद्वान् प्रो० हस्टन स्मिथ जिन्होंने 'Religions of the World' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का लेखन किया है। उन्होंने व्याख्यानमाला का उपसंहार करते हुए 'वेदान्त' पर अपने मननीय विचार व्यक्त किये।

वर्षव्यापी महोत्सव का समापन 'वेदान्त और विज्ञान' पर एक परिसंवाद से हुआ, जिसमें लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकों ने भाग लिया।

जिसने अपना मन, हृदय और आत्मा ईश्वर को समर्पित कर दिया है वह साधु है। जिसने कामिनी और कांचन का त्याग कर दिया है वह साधु है। वह स्त्रियों को अपनी माँ समझता है और तदनुरूप उनकी पूजा करता है। साधु सदैव भगवान् का चिन्तन करता है और यह जान कर कि भगवान् सभी में हैं, सबकी सेवा करता है।

—श्रीरामकृष्णदेव

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९८२

कार्यक्रम

स्वामी विवेकानन्द का १२० वां जन्म-तिथि महोत्सव

जन्मतिथि पूजा (मन्दिर में)   शनिवार, १६ जनवरी १९८२

श्री मां सारदा देवी का १२९ वां जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा (मन्दिर में)   गुरुवार, १७ दिसम्बर १९८१

श्रीरामकृष्णदेव का १४७ वां जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा (मन्दिर में)   गुरुवार, २५ फरवरी १९८२

*

* शनिवार, १६ जनवरी   सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

विषय :– "हम स्वामी विवेकानन्द से क्या सीख सकते हैं ?"

* रविवार, १७ जनवरी   सुबह ८॥ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

* रविवार, १७ जनवरी   सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

विषय :– "इस सदन की राय में आणविक शस्त्रों की दौड़ में भारत का भाग लेना आवश्यक नहीं है ।"

* सोमवार, १८ जनवरी सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता
(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

* मंगलवार, १९ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

विषय :– "विवेकानन्द के सपनों का भारत"

* बुधवार, २० जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

विषय :– "इस सदन की राय में भारतीय खेल पश्चिमी खेलों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।"

* गुरुवार, २१ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

विषय :– "स्वामी विवेकानन्द के पद चिह्नों पर"

* शुक्रवार, २२ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

विषय :– "इस सदन की राय में राजनीति ही भारत की आर्थिक एवं सामाजिक दुरवस्था का कारण है।"

* शनिवार, २३ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

* रविवार, २४ जनवरी सायंकाल ६॥ बजे

विषय :— "भारत का वर्तमान संकट और रामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा"

अध्यक्ष : डा. बी. के. श्रीवास्तव, कुलपति, रविशंकर विश्व-विद्यालय, रायपुर।

प्रमुख अतिथि : पण्डित रामकिंकर जी उपाध्याय

* २५ जनवरी से ३ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

(मानस-रोग प्रकरण)

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकरजी महाराज

* ४ फ़रवरी से ७ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : (१) विदुषी सरोजबाला त्रिपाठी
(२) बालयोगी विष्णु अरोड़ा

०